UNIVERSAL
LIBRARY

भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या ३३

व्यवसाय का आदर्श

व्यवसाय के आदर्श का हमारे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है,
उसका हमारे विकास में महत्वपूर्ण भाग होता है।
धन्य है वह आदमी, जो अपने व्यवसाय
को अच्छे आदर्श के अनुसार
श्रद्धा भक्ति से करता है।

व्यवसाय का आदर्श

लेखक

भारतीय अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, भावी
नागरिकों से, और मनुष्य जाति की
प्रगति, आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग

पहला संस्करण

सन् १९४८ ई०

मूल्य एक रुपया

प्रकाशक :—

भगवानदास केला
व्यवस्थापक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज (इलाहाबाद)

मुद्रक :—

गयाप्रसाद तिवारी बी० काम०
नारायण प्रेस
नारायण बिल्डिंग्स
प्रयाग

विषय-सूची

———

निवेदन

समाज में आदमी तरह-तरह के व्यवसाय करते हैं। उस व्यवसाय से आदमी समाज की किसी-न-किसी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति करता है, और साथ ही उससे उस आदमी का भी निर्वाह होता है। अगर हरेक आदमी अपने व्यवसाय को अच्छी तरह ईमानदारी से और लोक-सेवा की भावना से करे तो समाज का जीवन बहुत सुखमय हो। लेकिन अधिकतर आदमी अपने स्वार्थ-साधन में लगकर समाजहित की अवहेलना करते हैं। इसका नतीजा यह है कि सामाजिक जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता ; आदमी तरह-तरह के कष्ट उठा रहे हैं।

नागरिक और आर्थिक विषयों पर लिखते हुए मैंने अपनी रचनाओं में बताया है कि आदमी को अपने व्यवसाय धंधे में किन-किन बातों का विचार रखना चाहिए, जिससे सभी का हित हो। इस पुस्तक में इस विषय पर सिलसिलेवार लिखा गया है। आरम्भ में सिद्धान्त-रूप से ऐसी बातों का विचार किया गया है, जिनका सम्बन्ध सभी व्यवसायों से है। आगे कुछ अध्यायों में उदाहरण के तौर पर एक-एक व्यवसाय के आदर्श का खुलासा विचार किया गया है, और एक अध्याय में कई व्यवसायों के बारे में संक्षेप में चर्चा की गई है। आदर्श हमारे हृदय में अच्छी तरह अंकित रहे, इसके लिए घर में, शिक्षा-संस्थाओं में तथा समाज में मौखिक ही नहीं, दृष्टांत रूप से भी शिक्षा मिलती रहनी चाहिए। एक अध्याय में इसी बात का विचार किया गया है। आशा है, पाठक इस महत्वपूर्ण विषय पर अच्छी तरह विचार करेंगे और अपने व्यवसाय को लोकहित की भावना से, करेंगे जिससे हमारा सामाजिक जीवन अधिक सुखमय हो, और सब का नैतिक विकास होता रहे। शुभम्।

विनीत

आभास

—'मैं देश के लिए कुर्बान होना चाहता हूँ।'

—'मैं मरने को तैयार हूँ।'

—'मेरी जान हाज़िर है।'

—'मैं गोलियों से नहीं डरता।'

—'आज्ञा हो तो मैं तोप के सामने डट जाऊँ।'

इस तरह की अनेक आवाज़ें आ रही हैं। युवकों और युवतियों की, पुरुषों और स्त्रियों की, बालकों और बूढ़ों की यह त्याग-भावना प्रशंसनीय है। जननी जन्मभूमि के लिए आवश्यकता होने पर उसकी हरेक सन्तान को अपने प्राणों का मोह छोड़ने के लिए तैयार रहना ही चाहिए। लेकिन ऐसा करने का अवसर तो कभी-कभी ही आता है, और मरने के लिए आदमियों की एक सीमा तक ही आवश्यकता होती है। हर समय तो जीनेवालों की जरूरत होती है; हाँ, जीवन आदर्शमय हो। ऐसे जीवन के लिए लोभ-लालच, बेईमानी, झूठ, कपट, मुनाफेखोरी आदि का त्याग करना होगा।

हरेक आदमी जो व्यवसाय करे, उसमें वह अपने निजी स्वार्थ को प्रधानता न दे; व्यवसाय को जीवन की साधना बनाए, उसे लोक-सेवा का साधन समझे, उसके द्वारा वह अपना विकास करे, और देश बन्धुओं का हित करे। ऐसी भावना से व्यवसाय करना, प्राण न्योछावर करने से बढ़ कर है; कारण कभी-कभी आदमी क्षणिक आवेश में आकर भी अपने प्राण दे डालता है, पर आदर्शमय व्यवसाय करने में तो घड़ी-घड़ी पर हमारी परीक्षा होती रहती है। परमात्मा करे हमारे भाई और बहिनें इस निरंतर होनेवाली कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हों।

———

पहला अध्याय

व्यवसाय और स्वावलम्बन

मनुष्य की प्रधान आवश्यकताएँ—हम सब जिन्दा रहना चाहते हैं, और जिन्दा रहने के लिए तरह-तरह के अनेक काम किया करते हैं। बात यह है कि अपने शरीर की रक्षा या भरण-पोषण के लिए हमें कुछ चीज़ों की अत्यन्त आवश्यकता होती है, उनके बिना हमारा काम नहीं चलता। यों तो हमें सब से अधिक आवश्यकता हवा की होती है, पर क्योंकि वह आम तौर से हमें बिना कुछ खर्च या मेहनत के मिलती रहती है, इसे हम अपनी मुख्य या प्रारम्भिक आवश्यकताओं में नहीं गिनते। हमारी आवश्यकताएँ ये मानी जाती हैं—भूख मिटाने या शरीर की परवरिश के लिए भोजन; सर्दी गर्मी से बचने के लिए कपड़ा; धूप, वर्षा, ओले वा बहुत ठंढक से बचने और जानवरों से रक्षा करने के लिए मकान; जी बहलाने के लिए मनोरंजन का सामान; और कभी बीमार पड़ जायँ तो रोग-मुक्त होने के लिए औषधियाँ। आम तौर से शुरू की हालत में आदमी जितने काम करता है, वह प्रायः अपनी इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ही करता है।

सामाजिक जीवन की आवश्यकता—आदमी अकेला रहकर इन ज़रूरतों को आसानी से या अच्छी तरह पूरा नहीं कर सकता। उसे दूसरे आदमियों की सहायता की आवश्यकता होती है। यह बात बहुत मुश्किल क्या, करीब-करीब नामुमकिन है कि कोई आदमी अपने जीवन-निर्वाह की सभी चीज़ें अपने आप बना सके। बात यह है कि अकसर एक चीज को बनाने के लिए दूसरी कई चीजों तथा औजार आदि की ज़रूरत होती है; और अगर कोई आदमी इन सब चीज़ों

और औजारों को खुद ही बनाना चाहे तो जब तक ये बनकर तैयार न हों, तब तक उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इस प्रकार आदमी को दूसरों की सहायता और सहयोग लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए आदमी मिलजुल कर, समाज में, रहते हैं। एक आदमी या समूह एक काम करता है, दूसरा आदमी या समूह दूसरा काम करता है। हम दूसरों को कुछ चीज़ें बनाने में सहायता देते हैं, या उनके लिए कुछ चीज़ें बना कर देते हैं, और बदले में उनकी सहायता या उनकी बनाई हुई चीजें लेते हैं। इस तरह सब का काम चलता है।

समाज में तरह-तरह के व्यवसाय—ऊपर कहा गया है कि कोई आदमी अपनी ज़रूरत की सब चीज़ें नहीं बना सकता, पर यह आवश्यक है कि वह समाज के दूसरे आदमियों के लिए कुछ ऐसी चीज़ें बनाए या ऐसा काम करे जिसके बदले में वह दूसरों से अपनी जरूरत की चीज़ें ले सके और अपना निर्वाह कर सके। इस प्रकार कोई न कोई काम-धन्धा करना सब के लिए ज़रूरी है। बिना कोई उद्यम, रोजगार, या काम-धन्धा किए आदमी की गुज़र नहीं हो सकती। यही कारण है कि हम समाज में लोगों को तरह-तरह के काम करते हुए देखते हैं; कोई अनाज पैदा करता है, कोई आटा पीसता है, कोई बर्तन-बनाता है, कोई कपास ओट कर रूई तैयार करता है, और कोई रूई से सूत कात कर कपड़ा बुनता है। कुछ आदमी ऐसे हैं, जो कोई चीज पैदा या तैयार न करके उनका व्यापार करते हैं। जिसके पास एक चीज अधिक होती है, उससे व्यापारी वह चीज लेकर दूसरे ऐसे आदमी को देते हैं जिसे उसकी ज़रूरत होती है, और जो दूसरे आदमी के लिए उपयोगी चीजें दे भी सकता है। कुछ आदमी बालकों को पढ़ना-लिखना सिखाते हैं। और, कुछ आदमी रोगियों को दवादारू आदि देने का काम करते हैं। इस तरह समाज में किसान, कारीगर, व्यापारी, अध्यापक और वैद्य आदि अपने-अपने काम से दूसरों की सहायता

करते हैं, और बदले में अपने जीवन-निर्वाह के लिए विविध वस्तुएँ प्राप्त करते हैं।

हरेक आदमी को स्वावलम्बी होना चाहिए—जो आदमी कोई व्यवसाय करके समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक नहीं होता, उसे दूसरों से अपनी ज़रूरत की चीजें नहीं मिल सकतीं। इसलिए हरेक आदमी को कोई न कोई व्यवसाय करना ज़रूरी है, जिससे उसका, उसके परिवार वालों का तथा उसके आश्रित अन्य व्यक्तियों का निर्वाह हो। सिवाय उस दशा के जब कि हम असमर्थ हों, हमें हमेशा स्वावलम्बी होना चाहिए। यह बात इतनी सरल और स्वाभाविक है, कि आम तौर से हमें इसके महत्व का विचार नहीं होता। सभी आदमी इसे ठीक समझते हैं; तो भी वर्तमान अवस्था में इस पर बहुत जोर देने की आवश्यकता है।

भिखारी, साधु संन्यासी, और चोर—समाज में दो प्रकार के आदमी तो स्पष्ट ही ऐसे हैं, जो स्वावलम्बी जीवन नहीं बिताते, कोई व्यवसाय नहीं करते—भिखारी, और चोर। खासकर भारतवर्ष में कितने ही आदमी तन्दुरुस्त और हट्टे-कट्टे होते हुए भी मुफ्त का खाने में कुछ संकोच नहीं करते। कुछ आदमी गेरुआ वस्त्र पहन लेते हैं; कुछ बदन पर राख लपेट लेते हैं, या धूनी रमा लेते हैं; कुछ किसी देवी देवता की मूर्ति के पुजारी बन बैठते हैं, या अन्य प्रकार से सर्व-साधारण को भ्रम में डालकर उनकी श्रद्धा और दानशीलता से अनुचित लाभ उठाते हैं। भोले-भाले लोगों की उदारता से ये लोग आलसी और निरुद्यमी जीवन व्यतीत करते हैं। यह ठीक है कि अपाहिज, बुड्ढों और कमजोर आदमियों को समाज की सहायता और सहानुभूति पाने का अधिकार है; लोगों का यह कर्तव्य है कि उनकी ज़रूरतें पूरी करने में भरसक सहयोग दें। इसी तरह जो साधु संन्यासी घूम फिरकर देश में धार्मिक अर्थात् नैतिक बातों का प्रचार करें, जनता में

नागरिकता के भाव भरें, वे भी गृहस्थियों की ओर से भोजन-वस्त्र आदि की सुविधाएँ प्राप्त करें। लेकिन निखट्टू, आलसी या ढोंगी आदमियों को समाज से किसी प्रकार सहायता या सहानुभूति पाने की आशा नहीं करनी चाहिए; जनता को चाहिए कि उनके प्रति कड़ा रुख करके उन्हें स्वावलम्बी होने के लिए विवश करे।

जो आदमी चोरी करके अपना निर्वाह करते हैं, उन्हें राज्य की ओर से दंड मिलने का नियम है। जब कभी उनका चोरी करना साबित हो जाता है तो उन्हें अपराधी माना जाता है, और दंड दिया जाता है। हाँ, कभी-कभी कुछ आदमी पकड़ में नहीं आते और कुछ समय मुफ़्त का माल खाते रहते हैं। क्योंकि इनसे जनता की सहानुभूति नहीं होती, जैसी कि भिखारियों या 'साधु-संन्यासियों' से होती है, ये लोग चोरी के काम में बहुत अधिक सफल नहीं होते। चोरों को राज्य की ओर से दंड मिलने की व्यवस्था ही काफी नहीं है। विचार यह किया जाना चाहिए कि ये आदमी चोरी क्यों करते हैं, और किन उपायों को काम में लाने से ये स्वावलम्बी बन सकते हैं। मिसाल के तौर पर अगर इन्हें अपनी आजीविका का इनके योग्य काम नहीं मिलता तो वैसे काम की व्यवस्था करना समाज और राज्य दोनों का कर्तव्य है, और उन्हें इस कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

रईसों के लड़के, 'बड़े' आदमी—भिखारियों और चोरों के अलावा और भी कुछ आदमी कोई व्यवसाय नहीं करते, स्वावलम्बी जीवन नहीं बिताते। धनवानों या रईसों के लड़के खाली बैठे अपने मा बाप की कमाई का उपभोग करें, इसमें बहुत कम आदमियों को एतराज होता है। कितने ही आदमी तो अपने चाचा ताऊ या मामा आदि के आसरे पड़े रहने को भी कुछ बुरा नहीं समझते। इन बातों में सुधार तभी हो सकता है, जब लोकमत काफी प्रबल हो। हरेक युवक और युवती के

हृदय में यह बात बैठाई जानी चाहिए कि उसे समाज के उपयोगी कोई न कोई कार्य अवश्य करना है। खेद है कि बहुत से आदमी, कुछ काम धन्धा न करते हुए, खाने-पीने और मौज उड़ाने को बड़प्पन का निशानी समझते हैं। असल में यह मनुष्य का बड़प्पन नहीं, ओछापन है; और, उसे इसमें लज्जा आनी चाहिए कि देश की कोई सेवा न करते हुए, किसी उत्पादक कार्य में भरसक भाग न लेते हुए भी वह अपने लिए वहाँ की उपयोगी चीजें खर्च करे। हमें अधिक नहीं तो उतना तो देश या समाज को देना ही चाहिए, जितना हम उससे लेते हैं।

व्यवसाय से मनुष्य का विकास—आदमी के लिए व्यवसाय की आवश्यकता सिर्फ इसीलिए नहीं है कि इससे उसका जीवन निर्वाह हो सकेगा, उसकी शारीरिक आवश्यकताएं पूरी होंगी। व्यवसाय से आदमी को मानसिक लाभ भी बहुत है। साधारण तौर से, काम करने की ओर मनुष्य की स्वाभाविक रुचि होती है, बिलकुल खाली बैठे रहना आदमी को दूभर प्रतीत होता है। दिन भर कुछ भी कार्य न करना मन के लिए बड़ा कष्टदायक होता है। जो आदमी काम करता है, और अपने परिश्रम का फल पाकर अपना निर्वाह करता है, उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है, उसमें आत्म-विश्वास बढ़ता है, उसे दूसरों के सामने ख्वाहमख्वाह दबना नहीं पड़ता, उसमें स्वतंत्र रूप से सोचने, साहस करने का भाव रहता है, उसकी विचार-शक्ति का विकास होता है। ये बातें किसी भिखारी, चोर या मुफ़्तखोर में नहीं हो सकतीं। काम करने से आदमी का अनुभव बढ़ता है वह पीछे उस काम को अच्छी तरह कर सकता है; यही नहीं, वह अपने लिए उससे अच्छे काम का विचार कर सकता है, वह प्रगति के पथ में आगे बढ़ते रहने के योग्य होता जाता है। इसके विपरीत, जो आदमी कोई कार्य नहीं करता, जिसे कुछ कठिनाइयों का सामना करने का अवसर नहीं मिलता, वह आगे क्या बढ़ेगा। इस

प्रकार मानसिक गुणों के विकास के लिए भी हर आदमी को कोई-न-कोई व्यवसाव करना जरूरी और लाज़मी है।

हर तरह के श्रम या मेहनत का आदर होना चाहिए—यहाँ एक बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है। कोई भी व्यवसाय हो उसमें कुछ श्रम करना होता है—किसी काम में खासकर शारीरिक श्रम होता है, किसी में खासकर मानसिक, और किसी में दोनों ही प्रकार का श्रम मिला-जुला होता है। जब कि व्यवसाय व्यक्ति समाज और देश सब के लिए उपयोगी है तो यह विचार करना ठीक नहीं है कि अमुक प्रकार का श्रम या काय ऊचे दर्जे का है, और अमुक प्रकार का श्रम या कार्य नीचे दर्जे का है। खेद है कि बहुधा लोगों को यह धारणा होती है कि मेज कुर्सी पर काम करनेवाले लेखक, अध्यापक या क्लर्क आदि का पद ऊंचा है; इन्हें आदमी बाबू साहब, पंडित जी या मुन्शी जी आदि कह कर पुकारते हैं। इसके विपरीत खेती करनेवाले, सामान ढोने वाले या मेहनत मजदूरी करनेवाले नीचे समझे जाते हैं। हमारे यहाँ प्रायः किसान का अर्थ गंवार है, और 'मज़दूर या 'कुली' शब्दों में अपमान का भाव रहता है। यही नहीं, भारतवर्ष में कितने ही काम ऐसे नीचे दर्जे के माने जाते हैं कि उनके करनेवाले ही नहीं, उनकी संतान भी, जो चाहे उस काम को न भी करती हो, अस्पृश्य या अछूत समझी जाती है। इस तरह का जाति-भेद मानना श्रम का अनादर करना है। असल में किसी श्रम को नीचा नहीं मानना चाहिए। हमें स्वावलम्बन का भाव बढ़ाना चाहिए। स्वावलम्बी आदमी किसी भी प्रकार का श्रम करनेवाला हो, कोई भी व्यवसाय करता हो, वह आदरणीय है; हाँ, हरेक व्यवसाय में आदर्श और सिद्धान्त रहना चाहिए; इसका विचार आगे किया जायगा।



दूसरा अध्याय

आदर्श की आवश्यकता



लाभ आज हमारे जीवन का मार्गदर्शक है। ·· युग की पुकार है कि हम अपने को बदलें और कुछ दिन 'घाटे का बिज़नेस' करना सीखें। हमारे पत्रकार यह न सोचें कि आगामी तीन वर्षों में हमें अपनी कोठी बना लेनी है; वे सोचें कि इन वर्षों में हमें इस क्षेत्र में अपने विचार भर देने हैं। प्रकाशक यह न सोचें कि हमें तीन वर्ष में अपना प्रेस लगा लेना है; वे सोचें कि हमें अपनी भाषा के इतने अभाव पूरे कर देने हैं। मिल-मालिक यह न सोचें कि हमें एक नई मिल लगानी है; वे सोचें कि हमें 'मिल-एरिया' को नया जीवन देना है।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

पिछले अध्याय में इस बात का विचार किया गया है कि हरेक आदमी को यथा-संभव कोई व्यवसाय करना और स्वावलम्बी होना चाहिए। बिना परिश्रम किए मुफ्त की रोटी खाना, अपने निर्वाह के लिए दूसरों पर भार-स्वरूप बने रहना उचित नहीं है। अच्छा, हमारे व्यवसाय का लक्ष्य या आदर्श क्या हो, अपने व्यवसाय में हम किन-किन बातों का ध्यान रखें।

जीवन-यात्रा में दिशा निश्चित करने की आवश्यकता— व्यवसाय का आदर्श स्थिर करना हमारे लिए ऐसा ही ज़रूरी है, जैसा किसी यात्री के लिए अपनी दिशा निश्चित कर लेना। अगर हम यात्रा आरम्भ करने से पहले अपना लक्ष्य या दिशा निश्चित नहीं करते तो हम कभी एक ओर चलेंगे, कभी दूसरी ओर; कभी दाईं ओर, कभी बाईं ओर, कभी आगे और कभी पीछे। इसका परिणाम यह होगा कि हम बहुत समय तक घूमते रहकर भी

अपनी यात्रा में विशेष प्रगति न कर पाएँगे; जिस स्थान से चलना आरम्भ किया, उसके आस पास ही चक्कर लगाते रहेंगे; अथवा यह भी सम्भव है कि हम अपने रवाना होने की जगह से भी कुछ पीछे हट जायँ। यात्री के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि वह पहले से यह स्थिर कर ले कि उसे किस दिशा में जाना है, और कहाँ पहुँचना है, जिससे उसे व्यर्थ इधर-उधर भटकने में अपनी शक्ति और समय नष्ट न करना पड़े। इसी तरह जो आदमी कोई व्यवसाय आरम्भ करे, उसे यह भली भाँति सोच समझ लेना चाहिए कि इस व्यवसाय का आदर्श क्या है, और मुझे इसमें किन सिद्धान्तों का ध्यान रखना आवश्यक है।

हमें दूसरों के सुख सुविधा का ध्यान रखना चाहिए—संभव है कि कुछ आदमी इस तरह की चर्चा को अनावश्यक या अनुपयोगी समझें। वे कह सकते हैं कि 'व्यवसाय का उद्देश्य अधिक-से-अधिक धन कमाना है। जिस व्यवसाय से हमारा अच्छी तरह निर्वाह होता है, वह अवश्य ही अच्छा है। हमें यह सोचने की कोई ज़रूरत नहीं कि व्यवसाय का आदर्श क्या हो।' इस तरह की विचार-धारा बहुत एकांगी है। ये लोग सिर्फ अपने हित या स्वार्थ की बात सोचते हैं। ये भूल जाते हैं कि आदमी समाज में रहता है, उसके कार्यों और विचारों का प्रभाव दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहता। यदि हम दूसरों के हित का विचार न करें तो दूसरे भी हमारे हित का ध्यान क्यों करने लगे! यदि हम दूसरों से छल-कपट करके उनका पैसा हड़पने का विचार करें, और दूसरे अपनी चालाकी से हमें धोखा देते रहें तो समाज का जीवन कितना संकटमय हो जाय। समाज का कार्य अच्छी तरह होते रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक अंग अपना काम करते हुए दूसरों के सुख और सुविधा का ध्यान रखे; हमारे काम का दूसरों के उचित स्वार्थों से संघर्ष न हो, हम किसी को हानि न पहुँचावें, वरन् जहाँ तक

सम्भव हो, हमारे काम स दूसरों को लाभ ही हो।

हमारी मानसिक या आत्मिक आवश्यकताएँ भी पूरी हों—पहले कहा गया है कि आदमी कोई व्यवसाय इसलिए करता है कि उससे उसकी भोजन वस्त्र आदि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परन्तु मनुष्य की आवश्यकताएँ केवल शारीरिक ही नहीं होती। शरीर की भूख मिटने पर भी उसे एक भूख रहती है, वह मन या आत्मा की भूख है। शरीर की प्यास बुझ जाने पर भी उसे एक प्यास रहती है, वह मन या आत्मा की प्यास है। इसी तरह शरीर की दूसरी ज़रूरतें पूरी हो जाने पर भी मन आत्मा की जरूरतें रहती हैं। आदमी की इच्छा होती है कि वह दूसरों से प्यार करे, और दूसरे आदमी उसे प्यार करें; वह दूसरों की सेवा और सहायता करे, और दूसरे आदमी उसकी सेवा और सहायता करें। आदमी में स्वाभाविक इच्छा है कि वह दूसरों से मिलजुल कर, सहानुभूति और सहयोग का भाव रखते हुए सामाजिक जीवन व्यतीत करे। आदमी के व्यवसाय से उसकी इन इच्छाओं की भी पूर्ति होनी चाहिए।

आदमी का अपने व्यवसाय में काफी समय लग जाता है। कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर उसे हर रोज कई-कई घंटे अपने व्यवसाय में लगाने होते हैं। अपने व्यवसाय को करते समय उसके मन में जो विचार रहते है, उनका उसके जीवन पर बहुत असर पड़ता है। इस लिए यह आवश्यक है कि अपना व्यवसाय करते समय हमारे विचार ऊंचे हों। ऐसा न हो कि उस समय हमारे मन में संकीर्ण स्वार्थ भरा हो, हम दूसरों को कष्ट या हानि पहुँचा कर भी अपने लिए सुख के साधन जोड़ने की फ़िक्र में हों। वरन् अपना काम-धंधा करने के साथ-साथ हम अपने मन में प्रेम, दया, सहानुभूति, सहयोग और सेवा-सुश्रुषा आदि सद्‌गुणों का विकास करते रहें। हमारा व्यवसाय हमारी शारीरिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति में सहायक न होकर हमारी

मानसिक और आत्मिक उन्नति में भी सहायक होना चाहिए।

तभी हमें सुख-शान्ति मिल सकती है—हमें समय-समय पर कई ऐसे आदमी मिले हैं, जिन्हें अपने व्यवसाय से काफी आमदनी है, जो दूसरों की निगाह में बहुत सुखी हैं, परन्तु जो वास्तव में सुखी नहीं हैं। उनके मन में बड़ा संघर्ष और असंतोष रहता है। हाँ, इस तरह की बात वे सर्वसाधारण में जाहिर नहीं होने देते। जो कोई उनका बहुत ही घनिष्ठ या अंतरंग मित्र होता है, जिससे उन्हें जी खोल कर बातें करने में कोई सकोच नहीं होता, उन्हें ही यह भीतरी रहस्य मालूम हो सकता है। मतलब यह कि हमें अपना व्यवसाय इस तरह करना चाहिए कि शारीरिक या भौतिक सुख के साधनों के साथ हमें अपने आत्मिक विकास का भरपूर अवसर मिले। यह तभी हो सकता है, जब हम उस व्यवसाय को करते हुए अपने नैतिक गुणों की वृद्धि की बात भूल न जायँ, बल्कि उसका अच्छी तरह ध्यान रखें।

व्यवसाय से हमारे पूरे जीवन का विकास हो—हमारा व्यवसाय हमारे पूर्ण जीवन का निर्माण करनेवाला हो, केवल अधूरे जीवन का नहीं। हम याद रखें कि आदमी केवल शरीर नहीं है, उसके साथ मन और आत्मा भी हैं। जो व्यवसाय निरे स्वार्थ की दृष्टि से किया जायगा, वह हमारे शरीर की आवश्यकताएँ भले ही पूरी करदे, पर उससे हमारे मन और आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। इसके लिए तो हमें अपना व्यवसाय इस तरह करना होगा, जिसमें दूसरों का भी हित हो। तब ही हमारे मन और आत्मा की उन्नति करनेवाले गुणों की वृद्धि होगी, और हमारे पूरे जीवन का विकास होगा।

बहुत से आदमी अपने मन और आत्मा को आवश्यकताएँ पूरी करने अर्थात्, लोगों की सेवा और सहायता करने की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, और इन कामों को समय-समय पर करते भी हैं। पर उनका

इन कामों के करने का ढंग ऐसा नहीं होता, जैसा हमने ऊपर बताया है। वे अपने व्यवसाय का उद्देश्य तो धन कमाना ही समझते हैं; हाँ, वे अपनी कमाई में से कुछ हिस्सा दान धर्म आदि में खर्च कर देते हैं, इस प्रकार ये दयालुता, परोपकार या लोक-सेवा के भावों का परिचय देते हैं, और समाज में इन्हें बहुत यश या प्रतिष्ठा मिल जाती है। दान-धर्म का समाज में कितना दुरुपयोग हो सकता है, और भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था में तो हो ही रहा है, यह हम पहले बता चुके हैं। अगर दुरुपयोग न भी हो, तो भी इससे वह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, जो व्यवसाय में ही लोक-सेवा का आदर्श रखने से हो सकता है। जो आदमी पहले तो जैसे-तैसे धन कमाता है, और उस से अपनी शारीरिक सुविधाएँ या सुख प्राप्त करता है; और फिर थोड़ा-बहुत रुपया गरीबों को दान देता है, या सार्वजनिक उपयोग के लिए औषधालय, विद्यालय धर्मशाला, या मन्दिर आदि की स्थापना करके अपने मन या आत्मा को सुख पहुँचाने की चेष्टा करता है, वह अपने जीवन को अलग-अलग भागों में देखता है, और उनकी आवश्यकताओं की, जुदा-जुदा समय में और जुदा-जुदा उपायों से पूर्ति करता है। परन्तु मनुष्य-जीवन को इस प्रकार अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित करना ठीक नहीं है, उसके विकास का कार्य यथा-सम्भव इकट्ठा ही होना चाहिए।

मनुष्य के शरीर की उपमा—इस बात को समझने के लिए हम अपने शरीर की रचना पर ही विचार करें। हमारे हाथ, पाँव, सिर सब का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम यह नहीं कर सकते कि पहले हाथों की अवहेलना करके सिर्फ पाँवों की उन्नति करें, और पीछे कभी हाथों को बलवान बनाने की ओर ध्यान दें। इसी तरह यह ठीक नहीं है कि आदमी पहले तो अपने व्यवसाय द्वारा धन कमाने में लगा रहे, और फिर जब अपने खाने-खर्चने के बाद कई हज़ार रुपये बच रहें तो उनमें से कुछ सौ रुपये दान धर्म में खर्च करदे, या जब

उसे लाखों रुपये की बचत हो जाय तो उसमें से एक-आध लाख रुपया किसी सार्वजनिक काम में लगादे। ऐसा करनेवाले लोगों के जीवन का यदि अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि उन्होंने धन कमाने में ही अपनी सब शक्ति लगाई। उन्होंने अपने व्यवसाय की सफलता यही समझी कि किस प्रकार अधिक-से-अधिक लाभ हो। यदि उन्होंने ने अपने सामने कुछ सिद्धान्त रखे तो इसी उद्देश्य से कि उन्हें उन सिद्धान्तों से अपनी आमदनी बढ़ाने में सहायता मिले; अन्यथा उन्होंने समाज-हित, सच्चाई, ईमानदारी आदि के आदर्श को कोई महत्व नहीं दिया। पीछे कभी उनके मन में अपने व्यवहार से बहुत ग्लानि हो गई; वे सख्त बीमार पड़ गए, अथवा बूढ़े हो जाने के कारण उन्होंने मौत को नज़दीक आया समझा तो उस समय उन्होंने अपनी उदारता और त्याग का परिचय दे डाला और 'दानवीर' प्रसिद्ध हो गए। इस तरह उनसे कुछ समाज-हित तो हो जाता है, पर उनका यह तरीका उनके विकास के लिए बहुत अच्छा नहीं होता।

दान-धर्म के लिए भी पाप की आमदनी अच्छी नहीं— कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ कुछ दान-धर्म आदि भी करते रहना चाहिए। वे दान-धर्म के खर्च को अपना आवश्यक खर्च मानते हुए इतनी आमदनी हासिल करने की फिक्र में रहते हैं कि उनका यह सब खर्च अच्छी तरह चलता रह सके। ऐसे लोग झूठ बोलने, लोगों का शोषण करने, घूस या रिश्वत लेने, झूठे सच्चे मुकदमे चलाने, कुर्की कराने, या खाद्य पदार्थों में मिलावट कर बेचने आदि से परहेज नहीं करते। उन्हें तो जैसे भी हो इतना धन कमाना होता है जिससे उनका सब खर्च चल सके; हाँ उनका कुछ दान-धर्म भी हो सके। ये लोग पाप का धन हासिल करते हैं, और उसका कुछ हिस्सा पुण्य के कामों में लगाते हैं; मानो ये पहले तो कुकर्म करते हैं, और फिर उसका थोड़ा-बहुत

प्रायश्चित करते हैं। साधारण आदमी इनके पुण्य के कामों को देख-कर इनकी प्रशंसा करते हैं, वे भूल जाते हैं, कि इन्होंने धन कमाया किस तरह था। कुछ आदमी उनके अनुचित व्यवहार से धन कमाने की बातें जानते हुए भी उसकी चर्चा करना अच्छा नहीं समझते। परन्तु विचारशील शास्त्रकारों ने ऐसे व्यवहार की साफ़ निन्दा की है और कहा है कि में शरीर को कीचड़ भर कर उसे धोने की अपेक्षा यही अच्छा है कि कीचड़ को छुआ ही न जाय। हमें इस नीति-वाक्य पर अच्छी तरह विचार करना, और इस उपदेश को अपने व्यावसायिक जीवन में बर्तना चाहिए।

व्यवसाय लोक-सेवा का साधन हो—ऊपर हमने व्यवसाय का विचार धन को कमाने और उसको खर्च करने की दृष्टि से किया। अब ज़रा समय की दृष्टि से विचार करें। प्रायः हम लोग अपना समय इस तरह बिताते हैं, कि या तो हमें अपने व्यवसाय से ऐसा अवकाश ही नहीं मिलता कि हम आदर्श या सिद्धान्तों आदि की बात सोचें, अथवा हमारा व्यवसाय का समय केवल धन कमाने की ही बातों के वास्ते सुरक्षित होता है; उस समय हम अपने मन में दया त्याग, परोपकार आदि की भावनाओं को कोई जगह देना नहीं चाहते, क्योंकि हम इन बातों को धन कमाने में बाधक मानते हैं। हाँ, यदि बन आता है तो हम इन बातों के वास्ते दूसरा समय रखते हैं, जब हम मंदिर में भगवान के दर्शन करेंगे, पूजा-पाठ करेंगे, कथा आदि सुनेंगे। स्कूलों में विद्यार्थियों के लिए ऐसा समय-विभाग भले ही कुछ ठीक हो कि वे एक घंटा हर रोज भाषा पढ़ें, और दूसरे घंटे में भूगोल, इतिहास या गणित आदि; और स्वास्थ्य-रक्षा का विषय हफ्ते में केवल एक, या दो बार। मनुष्य-जीवन में इस प्रकार समय-विभाग करना बिल्कुल गलत और अनुचित है कि हम नैतिक बातों की, भाईचारे, उदारता और प्रेम की भावनाओं की

अवहेलना करते रहें, और केवल थोड़ी देर का समय इनके लिए लगाने की चेष्टा करें। जैसा हमने ऊपर कहा है, मनुष्य-जीवन के अलग-अलग टुकड़े नहीं किए जा सकते। हमें उसकी सर्वांगीण उन्नति का समुचित विचार रखना चाहिए; और यह तभी हो सकता है, जब हम अपने व्यवसाय का उच्च आदर्श रखें, उस व्यवसाय के द्वारा ही लोक-सेवा करे, यहाँ तक कि व्यवसाय हमारे लिए लोक-सेवा का साधन हो।

अवश्य ही ऐसा करना कुछ आसान नहीं, इसमें बहुत सी कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है, आदर्श के लिए मर मिटने की तैयारी की आवश्यकता है। पर इन कठिनाइयों का सामना करना ही तो जीवन है, जीवन के विकास का यही तो रास्ता है; इस विषय में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा।



तीसरा अध्याय

आदर्श-प्राप्ति का प्रयत्न

"बाधाओं से मत घबराओ; ये ईश्वर की देन हैं।"

हमने यह जान लिया कि हमें अपना व्यवसाय अंधाधुन्ध नहीं करते रहना चाहिए। हमारे सामने उसका एक आदर्श रहना चाहिए; वह आदर्श हो, लोक-सेवा करते हुए अपना जीवन-निर्वाह करना। पर इस आदर्श के अनुसार लगातार काम करते रहना कुछ आसान बात नहीं है। यदि सिर्फ एक-दो दिन की बात हो तो बहुत से आदमी इसे निभा सकते हैं, लेकिन हर रोज, हर घड़ी और जीवन-भर इसका ध्यान रखना और निर्धारित कर्तव्य-पथ पर डटे रहना साधारण आदमी के लिए बहुत मुश्किल है। कारण, तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ उप-

उपस्थित होती हैं। मिसाल के तौर पर सम्भव है, आदर्शवादी व्यवसायी की आमदनी कम हो जाय, और उसे ऐसे पदार्थों के उपभोग का नियंत्रण करना पड़े जिनके सेवन करने की उसे आदत पड़ गई हो, या जिनका व्यवहार समाज में आवश्यक समझा जाता हो।

इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता—पहले ऐसे पदार्थों के उपभोग के नियन्त्रण की बात लें, जिन्हें हम इसलिए सेवन करते हैं कि हमें दूसरों की देखादेखी खर्च करने की इच्छा होती है, और सम्भव है, यदि हम कुछ दिन उनका उपभोग करते रहें तो हमें उनकी आदत पड़ जाय। इस सम्बन्ध में विचार करने की बात यह है कि हम अपने जीवन का समुचित निर्माण और विकास करना चाहते हैं, तो हमें उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना होगा। हमें अपनी उन सब इच्छाओं का नियन्त्रण करना होगा, जो हमारे इस महान कार्य में बाधक हों। अगर आज हम अपने मित्रों और यार दोस्तों की देखादेखी पान-बीड़ी का शौक करने लगते हैं, तो कल हम इसी तरह कुछ दूसरे शौक भी करने लग सकते हैं। हमारी अपने मन को काबू में रखने की शक्ति धीरे-धीरे कम होती जायगी। ऐसी दशा में हम क्या उन्नति कर सकेंगे! अगर हम अपना उत्थान चाहते हैं तो हमें अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास करना होगा, और इसका क्रियात्मक रूप यही है कि हम इस प्रकार के प्रत्येक अवसर का उचित उपयोग करें, और किसी बात को छोटी समझ कर उसकी उपेक्षा न करें।

कृत्रिम या रिवाजी आवश्यकताओं का नियंत्रण—अब ऐसी आवश्यकताओं को नियंत्रण करने की बात लें, जिनका उपयोग केवल यही है कि उनसे समाज में हम अमीर या धनवान दिखाई देते हैं और इस लिए 'बड़े आदमी' समझे जाते हैं। इस विषय में हमें अच्छी तरह यह बात अपने दिल में बैठा लेनी है कि हम दूसरों को दिखाने के लिए बड़े बनने की कोशिश न करें; और, आदमी का

बड़प्पन इस बात में नहीं है कि वह बहुत कीमती जेवर और बढ़िया कपड़े पहनता है, बहुत बड़े और भव्य भवनों में रहता है, और तरह-तरह के कीमती सामान का उपयोग करता है अथवा शादी-विवाह आदि की सामाजिक रीति-रस्मों में बहुत रुपया खर्च करता है। ये बाहरी बातें आदमी को बड़ा नहीं बनातीं, वास्तव में बड़ा बनने के लिए आदमी को अपना हृदय बड़ा करना चाहिए, उसके मन में दूसरों के लिए प्रेम व सहानुभूति हो, वह दूसरों की सेवा में अपनी शक्ति लगावे, और उनके वास्ते कष्ट उठाकर उनकी उन्नति में लगा रहे। यदि हमारे अमीर न होने, और गरीबी का जीवन बिताने से जाति-बिरादरी वाले हमारा अनादर या अपमान करते हैं तो हमें अपने पथ से विचलित न होना चाहिए। कोई हमारा मजाक उड़ावे या निन्दा-स्तुति करे, हमें दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्य-पालन में लगा रहना है। इससे हमारा आत्म-बल बढ़ेगा, और धीरे-धीरे समाज मनुष्य के वास्तविक गुणों की कद्र करने लगेगा। वह समय कब आएगा, इसकी हम चिन्ता न करें; हमें तो इतना ही सोचना है कि हम इस दिशा में भरसक प्रयत्न करते रहें।

कठिनाइयों का सामना करने से जीवन का विकास होता है—विलासिता की या कृत्रिम आवश्यकताओं के नियंत्रण में कष्ट प्रतीत होना स्वाभाविक है। परन्तु इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है। कष्टों और मुसीबतों से आदमी का जीवन उसी प्रकार निखरता है, या विकसित होता है, जिस तरह सोना चान्दी आदि धातुएँ अग्नि में तपाए जाने से शुद्ध होती हैं। जो आदमी कठिनाइयों से बचता रहता है, उनका वीरता-पूर्वक सामना नहीं करता, आराम की जिन्दगी गुजारना चाहता है, उसके लिए विकास का रास्ता बन्द रहता है। गमलों में लगाए जानेवाले और सर्दी गर्मी से निरन्तर बचाए जानेवाले पौधे सुकुमार ही रहते हैं; बड़े पेड़ों की छाया में उगनेवाले पेड़ों की बहुत

बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, जो पेड़ पहाड़ों की कठोर भूमि में होते हैं, और कड़ी धूप तथा आँधी तूफान और ओलों की वर्षा आदि सहते हैं, उनकी लकड़ी खूब कड़ी, मजबूत तथा टिकाऊ होती है। आदमी अपनी सच्ची उन्नति चाहता है तो उसे जीवन-संग्राम की कठिनाइयों से डटकर टक्कर लेनी चाहिए, उसे हिम्मत से काम लेना होगा। उसे यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि कोई बना-बनाया छोटा सा रास्ता, आसानी से तय कर लेने से ही उस का काम चल जायगा। उसे अपनी यात्रा के कंकरों और काँटों को कुचलते हुए एक-एक मंजिल तय करनी है, और लक्ष्य की दूरी से न घबरा कर धैर्यपूर्वक अपनी यात्रा पूरी करनी है।

आवश्यकताओं के नियन्त्रण में आनन्द—हमने कहा है कि व्यवसाय में आदर्श का ध्यान रखने और निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने से आदमी को प्रायः अपनी आवश्यकताओं का नियंत्रण करना पड़ता है; और इसमें बहुत कष्ट और असुविधा हो सकती है। पर इसका दूसरा पहलू भी है। जब आदमी इन आवश्यकताओं का नियंत्रण करते हुए यह सोचता है कि मेरे द्वारा एक सत्कार्य हो रहा है, मैं ठीक दिशा में चल रहा हूँ, मैं अपने मन को वश में करने में सफल हो रहा हूँ, मेरा आत्मबल तथा साहस बढ़ रहा है तो उसे इससे कुछ आनन्द प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। जो आदमी अपनी कृत्रिम और विलासिता की आवश्यकताओं का नियंत्रण करके अपनी उचित आय में से कुछ धन बचा सकता है और बचाए हुए धन से लोक-सेवा और परोपकार सम्बन्धी कार्य कर सकता है, वह अपने जीवन में अद्भुत आनन्द का अनुभव करता ही है। परन्तु कल्पना करो कि कोई आदमी अपने आदर्श को प्राप्त करने में अपने जीवन से हाथ धो बैठता है तो क्या उसका यह काम कुछ घाटे का रहा ?

रणक्षेत्र में, मरुभूमि में, या अन्य अवसरों पर समय-समय पर

कितने ही आदमियों ने स्वयं भूखे-प्यासे रहकर दूसरों को भोजन और पानी दिया है। जाति और धर्म के लिए अपनी जान न्योछावर करने के उदाहरण सभी देशों के इतिहास में मिलते हैं; भारतवर्ष का इतिहास तो ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। इन वीर पुरुषों और स्त्रियों ने अपना बलिदान करने में जिस आनन्द का अनुभव किया है, उसे वे ही जानते हैं। मरते समय इनके चेहरों से खुशी टपकी पड़ती थी, इनका वज़न बढ़ गया था, जो इस बात का सबूत था कि कष्ट की भावना इनके पास बिलकुल नहीं है, वरन् इन्हें कर्तव्य पालन की विलक्षण प्रसन्नता है। इस प्रकार व्यवसाय में आदर्श का ध्यान रखने और उसके अनुसार व्यवहार करने के प्रयत्न में यदि कुछ कष्ट हो तो उसके साथ कर्तव्य-पालन का जो आनन्द मिलेगा, वह भी तो कुछ कम न होगा।

सद्गति या अच्छी मृत्यु—हमने इस पुस्तक के पहले अध्याय में बताया है कि आदमी की एक बड़ी इच्छा जीवित रहने की है। यह इच्छा सभी प्राणियों को होती है। पर आदमी में एक इच्छा ऐसी भी होती है, जो अन्य प्राणियों में नहीं होती; वह इच्छा है सद्गति या अच्छी मृत्यु पाने की। आदमी जानता है कि उसे एक दिन मरना है; वह चाहता है कि उसकी मृत्यु अच्छी से अच्छी हो। हम जो काम करते हैं, उसका अन्त अच्छा ही चाहते हैं। हम कहा करते हैं कि 'अन्त भला, सो भला'। इस तरह हम चाहते हैं कि हमारे जीवन का अन्त अच्छा हो। पर जिस आदमी ने अपने जीवन भर धन कमाने के लिए व्यवसाय में कोई आदर्श नहीं रखा, अच्छे सिद्धान्तों का पालन नहीं किया, तरह-तरह की अनीति और छल-कपट से काम लिया—उसे मरते समय शान्ति कैसे मिल सकती है। उसे अच्छी मृत्यु का सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकता है! अच्छी मृत्यु पाने का कोई सरल उपाय या सस्ता नुस्खा नहीं है। उसके लिए जीवन भर के संयम और

साधना की आवश्यकता है। हमारा व्यवसाय हमारे लिए वह संयम और साधना है; इसलिए हमें व्यवसाय के आदर्श का निरंतर ध्यान रखना और उसके लिए लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिए।

गम्भीरता और दृढ़ता की आवश्यकता—जीवन में अनेक उतार-चढाव आते हैं। समय-समय पर आदमी की विकट परीक्षा होती है। बहुत दफा ऐसा होता है कि जिस आदर्श का ध्यान रखते हुए हमने अनेक कठिनाइयाँ सहन कीं, उस आदर्श को आगे निभाने की हिम्मत नहीं होती। गृहस्थों को जब अपने बाल बच्चों का सकट देखने का प्रसंग आता है तो उनका धैय छूटने लगता है। ऐसे अवसर पर आदमी को बड़ी गम्भीरता से काम लेना चाहिए; ऐसा न हो कि वह परिस्थिति के सामने नब जाय। कौन जाने यह उसकी अन्तिम ही परीक्षा हो, और यदि वह थोड़ी देर और धैर्य तथा दृढ़ता का परिचय दे सके तो फिर उसके लिए विजय ही विजय है। निदान, हमें सतर्क रहते हुए अपने व्यवसाय के आदर्श का विचार बनाए रखना, व्यवसाय के द्वारा लोक-सेवा की साधना का प्रयत्न करते रहना, चाहिए।

बहुत से आदमी किसी परिमित या नपे तुले समय के लिए काफी कठोर व्रत धारण करते और उसे अच्छी तरह निभाते हैं। कोई आदमी कुछ समय मौन धारण करता है, कोई किसी खास चीज को महीनों नहीं खाता, कोई किसी वस्त्र का या जूतों का त्याग कर देता है। पर जीवन भर के लिए कुछ नियम बनाना, और उन्हें दृढ़ता से पालन करना कठिन है। आदर्श-प्राप्ति के प्रयत्न का काम ऐसा है जो एक दो महीने या साल दो साल में पूरा नहीं होता, इसे तो सारी उम्र करना है। इसमें आदमी के धैर्य और दृढ़ता की कड़ी परीक्षा होती है। परन्तु यदि हम अपने जीवन का विकास चाहते हैं, और उसे अपने लिए एवं मानव समाज के लिए उपयोगी बनाना चाहते हैं तो हमें यह कठिन कार्य करना ही चाहिए, आशावादी रहते हुए हिम्मत से काम लेना

चाहिए। श्री० कविवर श्रीकृष्ण द्विवेदी जू की ये पंक्तियाँ हम याद रखें—

आँधी आती है आने दो,
घन घिरते हैं घिर जाने दो।
कंटकाकीर्ण पथ पर ओले,
यदि गिरते हैं गिर जाने दो।
जो विचलित होता नहीं कभी,
वह होता विफल-प्रयास नहीं।
मानव हो कभी निराश नहीं॥

————

चौथा अध्याय
व्यवसाय का चुनाव

"ईमानदारी के साथ किया हुआ हरेक श्रम आदरणीय है।"

अब हम इस बात का विचार करते हैं कि हमें अपने वास्ते कैसा व्यवसाय चुनना चाहिए, व्यवसाय के चुनाव में किन-किन बातों की ओर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। और, यदि संयोग से हमें ऐसा काम करने का अवसर न मिले, जैसा हम चाहते हैं, तो हमें क्या करना उचित है।

व्यवसाय के चुनाव की कसौटी—प्रायः हरेक नौजवान के मन में बड़ी-बड़ी उमंगे होती हैं। वह अपने नगर के कुछ बड़े या प्रतिष्ठित समझे जानेवाले आदमियों को देखता है, या अगर उसका कोई रिश्तेदार आदि किसी ऊँचे पद पर होता है तो उसकी ओर ध्यान देता है। वह सोचता है कि मैं भी ऐसा ही या इससे भी अधिक आदर-मान पानेवाला बनूँ; मेरी खूब आमदनी हो; खूब धन-दौलत हो; खूब मकान, बगीचा, गाड़ी, घोड़ा, नौकर-चाकर तथा तरह-तरह का सामान हो।

अपने भविष्य का ऐसा चित्र बनाकर, वह यह विचार करता है कि मुझे कौनसा काम-धन्धा करना ठीक होगा। उसके सामने मुख्य प्रश्न यह होता है कि किस धन्धे से उसे अधिक-से-अधिक आमदनी होने की सम्भावना है। इससे मिलता हुआ एक प्रश्न उसके सामने यह भी होता है कि किस धन्धे में मेहनत कम करनी होगी, काम के घंटे कम होंगे, और छुट्टियाँ अधिक होंगी। इस प्रकार व्यवसाय के चुनाव में उसके सामने कसौटी यह होती है कि जिस काम में थोड़ी मेहनत से अधिक आमदनी होती है, वही काम सबसे अच्छा है। वर्तमान काल में जैसा वातावरण है, उसमें युवकों का ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। पर ऐसी विचार-धारा ठीक नहीं है। अमरीकी विद्वान जेम्स एलन ने कहा है कि 'बहुत थोड़े परिश्रम से ही प्रचुर धन-संचय की इच्छा एक प्रकार की चोरी है; बिना द्रव्य का यथेष्ट बदला या मुआवजा दिए, उसे पाने का प्रयत्न दूसरों की सम्पत्ति का हरण है।

सामाजिक प्रतिष्ठा का विचार—बहुत से आदमी व्यवसाय का चुनाव करते समय इस बात को बड़ा महत्व दिया करते हैं कि कौन-सा काम समाज में अधिक प्रतिष्ठा का है, और कौनसा कम प्रतिष्ठा का। जिन कामों के लिए समाज में अधिक प्रतिष्ठा होती है, उसे करने के लिए बहुत से आदमी उत्सुक रहते हैं। योग्य या प्रतिभावान आदमियों के, उन कामों में लग जाने से दूसरे कामों के वास्ते उतने योग्य आदमी नहीं मिलते। इससे समाज या राज्य को होनेवाली हानि स्पष्ट ही है। असल में व्यवसाय में प्रतिष्ठा का विचार करना ठीक नहीं है समाज का अच्छी तरह काम चलाने में जो-जो व्यवसाय सहायक और उपयोगी हैं, वे सभी अच्छे हैं। कुछ कामों के करनेवालों को समाज में ऊँचा पद मिलना चाहिए और दूसरे काम करनेवालों को नीचे दर्जे का—इस विचार-धारा ने भारतीय समाज में अनेक जाति उपजातियों को जन्म दिया है। इससे नागरिकों में समता का भाव न रह कर

पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और फूट तथा कलह की वृद्धि हो गई है। जबकि एक जाति वाले दूसरी जाति वालों को अपने से नीचे दर्जे का समझते हैं, और कुछ जाति वालों को अस्पृश्य या अछूत मानते हैं तो राष्ट्रीय भावना तथा एकता और संगठन में सफलता कैसे मिल सकती है।

आवश्यकता है, कि नागरिक सब प्रकार के उपयोगी श्रम का आदर करें और व्यवसायों में ऊँच-नीच का भेद-भाव न करें! वास्तव में अच्छे, ईमानदार, योग्य आदमी हर काम की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले होते हैं। व्यवसाय तो सभी अच्छे हैं, बशर्ते कि वे अच्छी तरह, और अच्छे सिद्धान्तों के अनुसार किए जायँ। इसके विपरीत, कोई भी व्यवसाय बहुत बुरा हो सकता है, जब आदमी उसके आदर्श का ध्यान न रख कर उसे केवल स्वार्थ-भाव से करता है। नागरिकों पर इस बात की जिम्मेवरी है कि वे अपने काम को सचाई, नेकनीयती, सेवा और परोपकार भाव से करते हुए उसका गौरव बढ़ावें।

व्यवसाय सेवा का साधन होना चाहिए—हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सेवा और परोपकार का क्षेत्र कुछ परिमित नहीं है, अर्थात् सेवा सिर्फ कुछ खास कामों से ही नहीं होती। अगर हम चाहें, अगर हमारी भावना हो, तो हरेक व्यवसाय को सेवा का साधन बनाया जा सकता है। जो आदमी कारीगर है, वह दूसरों के वास्ते उपयोगी वस्तुएँ बना कर उनकी ज़रूरतें पूरी करता है। व्यापारी हमारे वास्ते दूर-दूर की चीजें मँगा कर हमें उनका उपभोग करने की सुविधा देता है। अध्यापक बालकों को पढ़ना-लिखना, सामाजिक शिष्टाचार और नागरिकता का व्यवहार सिखाकर देश के लिए अच्छे नागरिक तैयार करता है। वैद्य डाक्टर आदमियों की बीमारियों का इलाज करके शारीरिक कष्ट दूर करता है। लेखक और कवि हमें विविध विषयों का साहित्य देकर हमारे मन और आत्मा को सात्विक तथा पौष्टिक भोजन प्रदान करते हैं। इसी तरह दूसरे व्यवसाय करनेवालों के विषय में

विचार किया जा सकता है।

इस प्रकार हम चाहे जिस काम या व्यवसाय को चुनें, हम उस में ऐसी भावना रख सकते हैं कि उसके द्वारा लोक-सेवा हो और हमारा विकास होता रहे। व्यवसाय-धंधे सभी अच्छे हो सकते हैं, यदि हम अपनी भावना अच्छी रखें। असल में महत्व हमारी भावना, हमारे स्वभाव, हमारे आदर्श और हमारे चरित्र का है।

विचारणीय प्रश्न—व्यवसाय का चुनाव करते समय हमारी दृष्टि केवल व्यवसाय की तरफ ही न रह कर स्वयं अपनी तरफ भी रहनी चाहिए। हमें सोचना चाहिए, और अच्छी तरह सोचना चाहिए कि हम किस काम को करने के योग्य हैं, किस में हमारा मन अच्छी तरह लगेगा, किसे करने से हमारी आत्मा को संतोष होगा। आदमी को समझ लेना चाहिए कि काम मेरे लिए सिर्फ अपने जीवन-निर्वाह करने का साधन न होकर, सेवा का साधन है, अपने जीवन के विकास करने का ज़रिया है। इस विचार से व्यवसाय के चुनाव का प्रश्न यह रूप धारण कर लेता है कि मैं किस व्यवसाय द्वारा अपना निर्वाह करने के साथ अधिक-से-अधिक लोक-सेवा कर सकता हूँ। क्या मैं अपने देश के बालकों को पढ़ा कर भावी नागरिकों को अधिक योग्य बनाने में हिस्सा लूँ? क्या मेरी योग्यता और मनोवृत्ति ऐसी है कि मैं रोगियों की सेवा-सुश्रूषा और चिकित्सा करके उन्हें सुख पहुँचा सकूं? क्या मैं व्यापारी बन कर समाज को आवश्यक चीजें पहुँचाने में मदद कर सकता हूँ? क्या मेरे मन में नए-नए लोकहित के विचार उठते हैं, जिन्हें दूसरों के वास्ते लिख कर छपाना उपयोगी होगा, अर्थात् क्या मेरे लिए लेखन-व्यवसाय करना ठीक रहेगा। इस तरह के विविध प्रश्नों पर विचार करना बहुत आवश्यक है; इन पर विचार करने से ही हमें अपने लिए व्यवसाय का चुनाव करने में सहायता मिलेगी।

सम्भव है, इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर एक दम न दिया जासके

हमें समय-समय पर इनका विचार करके यह निर्णय करना चाहिए कि हम विविध व्यवसायों में से सब से अधिक किस के योग्य हैं। कभी-कभी हमारा निर्णय गलत भी हो सकता है। उस दशा में, जब हमें अपनी गलती मालूम हो जाय तो जहाँ तक सम्भव हो, उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ दशाओं में हमें मालूम होगा कि जिस काम में हमारी रुचि सब से अधिक है, उसे अच्छी तरह कर सकने के लिए हमें कुछ विशेष योग्यता की आवश्यकता है। यदि ऐसा हो तो हमें उस विशेष योग्यता या अनुभव को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। मतलब यह कि जिस काम को हम करना चाहें, उसके लिए हम अपने आपको अधिक-से-अधिक तैयार करलें। राज्य और समाज का भी यह कर्तव्य है कि वह लोगों को अपनी शक्तियों का विकास करने की पूरी सुविधाएँ दें, जो आदमी जिस धन्धे में स्वाभाविक रुचि रखते हैं, उन्हें उस धंधे की अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिलाने की व्यवस्था करें; परन्तु अनेक दशाओं में राज्य या समाज की ओर से ऐसी व्यवस्था नहीं होती। खासकर पराधीन देशों के आदमियों को अपनी रुचि के काम की शिक्षा मिलना बहुत कठिन होता है।

जो काम हम करें, उसे प्रसन्नता से करें—वर्तमान परिस्थिति में बहुत से आदमी ऐसे रहते हैं, जो वह अनुभव करते हैं कि जो धंधा हम करते हैं, उसके लिए हमें यथेष्ट साधन और सुविधाएँ न मिलने से, हम उसमें जितनी प्रगति करना चाहते हैं, नहीं कर सकते। समाज भी इन लोगों की शक्ति से पूरा लाभ उठाने से वंचित रहता है। कुछ आदमी तो परिस्थिति के कारण ऐसा काम करने को विवश हो जाते हैं, जिसे वे सब से अधिक पसन्द नहीं करते, दूसरे या तीसरे दर्जे पर पसन्द करते हैं। ऐसा प्रसंग आने पर उन्हें यह याद रखना बहुत उपयोगी होगा कि 'सुख अपने पसन्द का काम करने में नहीं है, बल्कि

जो काम हमें करना पड़ता है, उसे पसन्द करने में है।'

कोई व्यवसाय आरम्भ करने से पहले हम अपनी परिस्थिति और योग्यता आदि का अच्छी तरह विचार करलें। पर जब किसी काम को करने का निश्चय करलें, और उसे करने लग जायँ, तब इस बात का अफसोस करना या दुख मानना ठीक नहीं कि हमें दूसरा काम करने को नहीं मिला, यह काम तो हमारे मन लायक नहीं है। इस तरह के विचार से मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है, और हम अपने कार्य को इतनी अच्छी तरह करने में असमर्थ हो जाते हैं, जितनी अच्छी तरह हम अपने मन को प्रसन्न रखने की हालत में कर सकते हैं! व्यर्थ की चिन्ताओं को मन से दूर रखते हुए हमें अपना कर्तव्य अच्छे-से-अच्छे रूप में पालन करना चाहिए।

कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी कुछ समय अपना काम भरसक मेहनत से और जी लगाकर करते रहने पर भी यह अनुभव करता है कि काम उतना अच्छा नहीं हो रहा है, जितना अच्छा होना चाहिए। उसके मन में यह विचार आता है कि मैंने इस काम को चुनने का निर्णय करने में गलती की, मैं दूसरा काम अच्छी तरह कर सकता हूँ। जब ऐसा हो तो आदमी को गम्भीरतापूर्वक कई बार सोचना चाहिए। उस काम को छोड़ने और दूसरा शुरू करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। हाँ, विशेष दशाओं में पहला निर्णय बदलना, और दूसरा काम करने लगना, उपयोगी होगा।

इस बात का विचार का अगले अध्याय में किया जायगा कि अपने व्यवसाय को करते समय हमारी उसके प्रति कैसी भावना रहनी चाहिए, और हमें अपने पथ-प्रदर्शन के लिए किस तरह के नियम निर्धारित करने चाहिएँ।

पाँचवाँ अध्याय

व्यवसाय के प्रति हमारी भावना

"कार्य ही पूजा है"

व्यवसाय के प्रति जन साधारण की भावना—अपने व्यवसाय के प्रति हमें कैसी भावना रखनी चाहिए, इस विषय पर, वर्तमान परिस्थिति के कारण विचार करना आवश्यक हो गया है। आज-कल साधारणतया लोगों की अपने-धन्धे के प्रति कैसी भावना होती है, इसकी उपमा उस बालक के मनोभाव से दी जा सकती है, जो अपनी इच्छा के विरुद्ध पाठशाला में जाता है या लेजाया जाता है। भीतर से बालक का मन नहीं है कि पढ़ने को जाय; उसके मन में पाठशाला का एक भयंकर या अरुचिकर चित्र है, वह उसे एक जेलखाना या कैदखाना समझता है, वह चाहता है कि यदि किसी प्रकार वहाँ जाने से छुट्टी मिल जाय तो बहुत अच्छा है। और, अगर वहाँ जाना ही है तो वहाँ जितनी थोड़ी देर रहना पड़े, उतना ही अच्छा; कारण, वहाँ का समय काटना उसे बहुत दूभर प्रतीत होता है। वहाँ वह सब मनोरंजन आदि से वंचित रहेगा। वह मन ही मन यह मनाता है कि कोई ऐसी घटना हो जाय कि यह 'जेलखाने की अवधि' जल्दी पूरी हो, और उसे खेलने-कूदने आदि की छुट्टी मिले।

व्यवसाय में आनन्द नहीं होता--विविध व्यवसायों में लगे हुए अधिकांश नागरिकों के मनोभाव बहुत-कुछ इसी प्रकार के हैं। जो काम उन्हें करना है, उसमें कुछ रस नहीं मालूम होता। वे उसे इस लिए करते हैं कि वे उसे करने को विवश हैं। बिना काम किए उन्हें रुपया-पैसा नहीं मिलेगा, और रुपए-पैसे बिना उन्हें अपने जीवन

की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का सामान नहीं मिलेगा। इस प्रकार उनकी यह मजबूरी उनसे काम करा रही है, अन्यथा वे इस को न करें, अथवा इसे कम-से-कम समय करें। इस भावना का ही यह परिणाम देखने में आता है कि उन्हें अपने काम में कोई उत्साह नहीं है। यदि काम शुरू करने का समय दस बजे से है, तो वे उसे यथा-सम्भव उसके कुछ मिनट बाद ही शुरू करना चाहते हैं; अगर देरी करने से दंड भोगने का प्रसंग आता हो तो मजबूर होकर वे समय की पाबन्दी करेंगे ही। इसी तरह काम करते हुए बीच-बीच में वे कई बार इधर-उधर की बातों में ध्यान देने लगते हैं, और किसी तरह निर्धारित समय पूरा करते हैं; अथवा अगर वश चले, और कोई एतराज करनेवाला न हो तो वे निर्धारित समय से पहले ही उस काम से अपना पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। असल में, उनकी इच्छा तो यह रहती है कि किसी तरह उनकी हाजरी गिनली जाय, जिससे वे दिन भर का वेतन पाने के हकदार हों जायँ; फिर काम कितना हो, और कुछ हो या न हो, इसकी उन्हें परवा नहीं। अगर कभी ऐसा कारण उपस्थित हो जाय, जिससे काम बन्द रहे, और उन्हें छुट्टी मनाने का अवसर मिल जाय, यानी बिना काम किए ही वे दिन भर के वेतन के हकदार मान लिए जायँ, तो उनकी खुशी का क्या ठिकाना!

इसका परिणाम—ऐसी भावना का नतीजा यह होता है कि जब उन्हें पूरे समय काम करना पड़ता है, बीच में कोई अवकाश नहीं मिलता, और एक दिन के बाद दूसरा दिन इसी तरह बीतता है तो उन्हें बहुत अखरता है, उनका मन बहुत थका हुआ सा होजाता है, और वे मनोरंजन का कोई मार्ग निकालना चाहते हैं। यह एक खास कारण है कि सिनेमा या टाकीघर दर्शकों से भरे रहते हैं। इनके दर्शक अधिकतर ऐसे आदमी होते हैं जिनको अपने काम में, कोई आनन्द नहीं आता, और जिनका गृहस्थ जीवन भी सुखमय नहीं होता। ये बेचारे अपने

मन का भार हलका करने का, कोई दूसरा उपाय नहीं पाते। इस लिए ये प्रायः हर सप्ताह, अथवा वश चले और इनके पास खर्च करने को पैसे हों तो हफ्ते में दो-तीन बार, सिनेमा आदि का शौक करते हैं। इससे कुछ दशाओं में इन्हें अपने द्रव्य के अलावा विश्राम या सोने का समय भी खर्च करना पड़ता है। पर ये लोग इसे सहन करते रहते हैं। बात यह है कि व्यवसाय इनके लिए एक भार है, उसमें इन्हें आनन्द नहीं मिलता। अगर ये अपने व्यवसाय को भार या बेगार न समझकर उसे अपने जीवन का उद्देश्य या 'मिशन' बना लें तो इनका जीवन कितना सुखमय हो जाय!

व्यवसाय में श्रद्धा और भक्ति—अपना व्यवसाय करने में हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम एक ऐसा काम कर रहे हैं, जो समाज के लिए हितकर और आवश्यक है। हम एक सेवा-कार्य कर रहे हैं; अवश्य ही इससे हमें कुछ धन की प्राप्ति होगी और हमारा निर्वाह होगा, पर वही हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा लक्ष्य अपने गाँव, नगर या देश वालों की, अथवा कुछ दशाओं में बाहर वालों की भी भलाई करना है। इस प्रकार हमारे मन में स्वाभिमान रहना चाहिए कि हमारे द्वारा एक लोकोपकारी कार्य हो रहा है। इस कार्य को हम खूब मन लगाकर करें, प्रतिदिन इसके आरम्भ करने के लिए हमारे मन में खूब उत्साह हो। हम हर रोज उस समय की प्रसन्नता-पूर्वक प्रतीक्षा करें, जब हम इस कार्य को करना शुरू करेंगे। हम प्रतिदिन उसे प्रेम और श्रद्धा से करते रहें; और जब उसके करने का समय पूरा हो, शान्ति से उस कार्य को बन्द करें। हमारे मन में यह भावना रहे कि हम जितना आज उसे कर सके हैं, कल हमें उससे आगे करने का सुअवसर प्राप्त हो।

जिस प्रकार कोई भक्त अपने इष्ट देव के दर्शन के लिए किसी मंदिर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार श्रद्धा और भक्ति से हम अपने

आफिस या कार्यालय में जायँ। हम समय पर उसमें अवश्य पहूँचें; हमारी कोशिश तो यह हो कि यथा-सम्भव दो-चार मिनट पहले ही वहाँ पहुँच जायँ। जिस प्रकार सच्चे भक्त पूजा-पाठ के समय दूसरी बातों में नहीं फँसते, हमें भी अपना काम करते समय बाहरी या अनावश्यक बातों में नहीं लगना चाहिए। हमारा कार्यालय हमारा मंदिर है, और हमारा कार्य ही हमारी पूजा है। यदि हम अपने व्यवसाय का काम ठीक मन लगाकर करते है, और उसके आदर्श—सेवा-भाव—का निरंतर ध्यान रखते हैं तो हमारे मन में संतोष रहेगा, हमें अपना समय सत्कार्य में लगाने का आनन्द मिलेगा। बस, यही तो पूजा-पाठ का फल है। काश! हम लोग घड़ी दो घड़ी के भगवद्भजन और शेष समय के दुनियादारी के कामों की जगह दिन भर के ईमानदारी और नेकनीयती से किए जानेवाले काम को अपनावें, और अपना जीवन सफल करें।

काम करने की जगह साफ-सुन्दर हो—हमने कहा है, हमारी काम करने की जगह का हमारे पूजा-घर की तरह मान होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट ही है कि वह साफ-सुथरी हो; वहाँ हरेक चीज ढंग से, अपने निर्धारित स्थान पर रखी हो। जिस चीज को हम काम के समय वहाँ से उठावें, उसका काम हो जाने पर उसे फिर उसी जगह पर रखदें। हमारे कार्यालय की सफाई हर रोज होनी ही चाहिए। इसके अलावा, हम अपने कार्यालय में ठीक ढंग से बैठें-उठें, और जो बाहर के आदमी आवें, वे भी कायदे से रहें। कोई अनावश्यक बात वहाँ न हो, फालतू गपशप के लिए वहाँ किसी को इजाजत न होनी चाहिए। यदि कोई आदमी वहाँ इन बातों का विचार नहीं रखता और नियम-विरुद्ध व्यवहार करता है तो वह हमारे मंदिर का अपमान करनेवाला है। उसे हमारे कार्यालय में स्थान नहीं मिलना चाहिए। इस प्रकार हमारे कार्यालय का वातवरण ऐसा हो, जो हमारे मन पर, तथा हरेक दर्शक

के मन पर, अच्छा हितकारी प्रभाव डाले और उसमें सात्विक और शान्ति-प्रदायक विचारों का उदय करे।

इस वातावरण को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने का हम निरंतर ध्यान रखें। मिसाल के तौर पर हम अपने कार्यालय में उन महानुभावों के चित्र लगा सकते हैं, जिन्होंने अपने समय में खूब लोकसेवा की है, जिन्होंने मानव जाति के लिए अनेक कष्ट उठाए हैं, और अपने व्यापक और विस्तृत प्रेम-भाव से अपने हृदय की उदारता और विशालता का परिचय दिया है। इन महानुभावों के चुनाव में हमें संकीर्णता या तंगदिली की भावना नहीं रखनी चाहिए; साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता का भाव नहीं होना चाहिए। महापुरुषों में दूसरे देश वालों को भी आदर मान देने में हमारे मन में कोई हिचक न हो। हम पूर्वी और पश्चिमी, देशी विदेशी, पुराने और नए सब का स्वागत करें। उदाहरण के लिए हम कृष्ण, गौतम बुद्ध, गांधी, नेहरू, आजाद, और दादाभाई नौरोजी का चित्र लगावें तो ईसामसीह लेनिन मेजिनी, मार्क्स, रस्किन और इमर्सन, टाल्स्टाय और फ्लोरेंस नाइटिंगेल आदि के चित्रों से भी अपने कमरे को सुशोभित करें। चित्रों के अलावा हमें कुछ आदर्श वाक्य या नीति-वाक्य अपने सामने बनाए रखने चाहिएँ, जिनसे हमें उच्च विचारों की बारबार याद आती रहे। दीवारों पर टांगे जानेवाले कुछ आदर्श वाक्य इस तरह के होने चाहिएँ—'प्रत्येक प्रकार का श्रम आदरणीय है', 'हमेशा सच बोलो', 'परहित सारिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई,' 'ईमानदार बनो', इत्यादि।

बाहरी वातावरण—ऊपर हमने अपने कार्यालय की भीतरी सफाई और सौन्दर्य या सजावट आदि की बात कही। कार्यालय के बाहर भी सफाई होनी चाहिए। इसके अलावा, उसके सामने कुछ सुन्दर पौधों और सुगन्धित फूलों की व्यवस्था होनी चाहिए। कभी-कभी

कार्य करने के समय हमारे सामने प्राकृतिक दृश्य आजाने चाहिएँ, जिससे आँखों को तरावट, नाक को सुगन्धि और मन को ताजगी मिले। हर डेढ़-दो घंटे के बाद कुछ मिनट अच्छे संगीत आदि की भी व्यवस्था हो। जब हमें अपने कार्यालय के भीतर और बाहर ऐसा वातावरण मिलेगा, तो हमारा मन वहाँ काम करते थकेगा नहीं, और उसे बाद में अलग किसी खास मनोरंजन की भी आवश्यकता न होगी। हम कार्यालय की छुट्टी होने पर ऐसे ही शान्त और प्रसन्नचित बाहर आवें, जैसे कोई भक्त पूजा करके किसी मंदिर से आता है।

व्यवसाय में सन्तोष और आनन्द—हम देखते हैं कि जब किसी आदमी को अपना काम करने पर अच्छी आमदना हो जाती है, तो उसे इतनी खुशी होती है कि उसका थकान जाता रहता है और वह उस कठिनाई या परेशानी को भूल जाता है, जिसका उसे उस काम के करते समय सामना करना पड़ा था। लेकिन अच्छी आमदनी मिलने की बात सदैव नहीं होती; कभी-कभी ही होती है। इसलिए जो प्रसन्नता आमदनी पर निर्भर है, उसका प्राप्त करना निश्चित नहीं रहता, वह हमारे अधीन नहीं। परन्तु यदि हम अपने व्यवसाय में स्वार्थ की ही भावना न रख कर सेवा या परमार्थ का भाव रखें, और हर रोज के काम से इस तरह का संतोष प्राप्त करने का प्रयत्न करें कि आज हमने अपना कर्तव्य अच्छी तरह, भरसक परिश्रम और ईमानदारी से, पालन कर दिया तो इस संतोष से हमें हर रोज ही मानसिक आनन्द मिलना निश्चित है। और, मन का शरीर पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह सब जानते ही हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी बातों का ध्यान—जब हम हर रोज शान्ति, सन्तोष और मानसिक आनन्द प्राप्त करते रहेंगे तो हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहने में भी सहायता मिलेगी। हमें स्वास्थ्य

रक्षा सम्बन्धी अन्य बातों का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। वास्तव में जब हम अपना जीवन कर्तव्यमय बनाना चाहते हैं तो हमें अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखने के लिए और भी अधिक प्रयत्न करना चाहिए। बिना शरीर को ठीक रखे, हम अपने कर्तव्यों का पालन अच्छी तरह कर ही नहीं सकते। इसलिए अच्छा तो यह है कि कोई आदमी न तो बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम करे, और न मानसिक ही; वरन् दोनों प्रकार का कार्य उचित परिमाण में करे। परन्तु कुछ दशाओं में ऐसा होना व्यावहारिक नहीं है। कुछ काम ऐसे हैं, जिनमें खासकर शारीरिक श्रम ही आवश्यक होता है, और कुछ में विशेष रूप से मानसिक श्रम करना होता है, अधिकतर एक जगह बैठा रहना पड़ता है। ऐसी दशा में शारीरिक कार्य करनेवालों को कुछ समय अपने शरीर को विश्राम देकर दिल-बहलाव करना चाहिए। और, जो लोग बैठे-बैठे लिखने-पढ़ने आदि का कार्य करते हैं, उन्हें कुछ शारीरिक परिश्रम—कसरत, दौड़ना, सबेरे शाम वायु-सेवन के लिए घूमना आदि-नियम-पूर्वक करना चाहिए। इसके अलावा, भोजन आदि के विषय में तो सबको आवश्यक बातों की ओर ध्यान देना ही चाहिए।

विशेष वक्तव्य—स्वास्थ्य-रक्षा में इन बातों के साथ, व्यवसाय की जो भावना हमने जो ऊपर बताई है, उससे बड़ी सहायता मिलती है। जो आदमी अपने व्यवसाय में उचित भावना रखकर नित्य संतोष और मानसिक आनन्द प्राप्त करते रहेंगे, वे अपनी जीवन-यात्रा में जल्दी ही थक नहीं जायँगे; वे अपेक्षाकृत अधिक आयु तक अपना काम उत्साह-पूर्वक करते रहेंगे। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि अपने व्यवसाय में हमारी भावना सेवा और परोपकार की या परामार्थयुक्त स्वार्थ की हो।

छठा अध्याय

कारीगर का आदर्श

जो व्यक्ति झूठ, कपट, एवं स्वार्थ को अपने जीवन में सफलता का साधन समझता है, उसे नाना प्रकार के दुःख और क्लेश उठाने पड़ते हैं।
—डा० रामचरण महेंद्र

पिछले अध्यायों में हमने व्यवसाय सम्बन्धी कुछ व्यापक बातों का विचार किया है। हरेक आदमी को, चाहे वह कोई भी व्यवसाय करे, उन बातों पर ध्यान देना और उन पर अमल करना ज़रूरी है। अब हम अलग-अलग प्रकार के व्यवसायों के सम्बन्ध में विचार करेंगे। सबके बारे में जुदा-जुदा व्योरेवार लिखना तो बहुत बड़ा काम है, वह तो कई किताबों का विषय है। हम तो सिर्फ मिसाल के तौर पर थोड़े से ही व्यवसायों के आदर्श की बातें लिखेंगे। इन्हें देखकर दूसरे व्यवसायों को करनेवाले अपने-अपने सम्बन्ध में व्योरेवार बातों का खुद विचार कर सकते हैं। पहले कारीगरों का आदर्श लीजिए।

कारीगर का महत्व—हम जो तैयार या बनी हुई चीज़ें इस्तेमाल करते हैं, वे दो तरह की होती हैं—(१) हाथ की बनी हुई, जिसे किसी कारीगर ने तैयार किया है, और (२) कल कारखानों में, मशीनों से बनी हुई। यद्यपि इस ज़माने में कल-कारखानों की वृद्धि होती जा रही है, अभी तक दस्तकारी या कारीगर का काफी स्थान है। भारतवर्ष में तो कारीगरों का महत्व निकट भविष्य में विशेष कम होनेवाला नहीं। कारण, यहाँ आदमियों को अपने-अपने घर पर रहते हुए स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना पुश्तैनी काम करने की आदत बहुत है; वे दूसरे के अधीन रहकर कारखानों में काम करना, और वहाँ के कायदे-कानून के बन्धन

में रहना, पसन्द नहीं करते। अधिकतर आदमी अपने ही गाँव या कस्बे में रहना चाहते हैं। जब वे जीवन-निर्वाह की कठिनाइयों से बहुत लाचार हो जाते हैं, तभी वे अपनी बस्ती तथा परिवार का मोह छोड़ते है। अस्तु, कारीगरों की संख्या और इनके कार्य का क्षेत्र काफी होने से इनके आदर्श का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है।

कारीगरों को अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देने की ज़रूरत—दुर्भाग्य से हमारे अधिकतर कारीगर—जुलाहे, चमार, बढ़ई, लुहार, संगतराश या पत्थर की चीज़ें बनानेवाले, कुम्हार, सुनार आदि—अशिक्षित हैं, और प्रायः लोगों के सामने मुख्य उद्देश्य पैसा कमाना होता है। जबकि बहुत से शिक्षित और सभ्य समझे जानेवाले आदमी भी लोभ में फँसे हुए मिलते हैं तो क्या आश्चर्य, यदि हमारे अशिक्षित कारीगर जीवन-निर्वाह की कठिनाइयों के कारण अपने व्यवसाय में छल-कपट या धोखेधड़ी का आसरा लें। अस्तु, आवश्यकता है कि वे अपने आदर्श के सम्बन्ध में सावधान रहें और अपने कर्तव्य से विचलित न हों।

जुलाहे का उदाहरण—खेद है कि बहुत से जुलाहे अपने कपड़े के थान या धोती का जितने माप की बताते हैं, उससे वह चार-छः गिरह कम की ही होती है। यह बात इतनी अधिक पाई जाती है कि प्रायः आदमी यह मानने लग गए हैं कि कपड़ा जितने गज का बताया जाता है, उससे कुछ कम ही होगा। तो भी जिसे पहले-पहल ऐसा अनुभव होता है, वह इसकी निन्दा किए बिना नहीं रह सकता। ऊपर माल के परिमाण की बात कही गई; उसके गुण, सिफत या 'क्वालिटी' की बात भी बहुत चिन्तनीय होती है। कपड़े की तह करके जो हिस्सा ऊपर रखा जाता है, उसकी बुनावट बहुत अच्छी या गफ होती है, भीतर माल घटिया या झरझरा रहता है। अगर कोई आदमी सिर्फ ऊपर की तह को देखकर ही कपड़े के बारे में अपनी राय कायम करे

तो अवश्य ही धोखा होगा। फिर, अकसर कपड़े को मांडी दी हुई होती है, और जबतक उसे घर लाकर अच्छी तरह धो नहीं लिया जाता, उसकी असली हालत मालूम नहीं होती। ये बातें कब तक चलेंगी!

चमार का विचार—चमार की बात लीजिए। वह जूता बना कर उसे ऐसा रूप रंग देता है कि वह बहुत बढ़िया और मज़बूत दिखाई पड़े। कभी-कभी बहुत ध्यान से देखने पर भी उसमें कोई दोष नज़र नहीं आता। पर होता प्रायः यह है कि तल्ले में ऊपर तो चमड़े का अच्छा और बड़ा टुकड़ा होता है, और भीतर (बीच में) छोटे-छोटे पुराने टुकड़े भरे रहते हैं। यही नहीं, कुछ दशाओं में भीतर कागज का पट्ठा आदि छिपा रहता है। हमने एक बार देशी जूता लिया। उसे पाँच सात दिन पहनने के बाद हमने देखा कि जब हम कुछ दूर घूम कर आते हैं तो हमारी अँगुलियों में मिट्टी लगी होती है। एक दो दिन हमें इसका रहस्य मालूम न हुआ। पीछे जाँच करने पर मालूम हुआ कि जूते के तल्ले में मिट्टी भरी हुई थी; भीतर के चमड़े के घिस जाने से वह पाँव में लगने लगी। हमने उस सारी मिट्टी को एकसाथ निकाल दिया, फिर तो जूते का तल्ला इतना पतला रह गया कि उस जूते को छोड़ ही देना पड़ा।

दूसरे कारीगरों की बात—लकड़ी के खिलौने और पत्थर के बर्तन या मूर्ति आदि में भी अकसर इतना धोखे का काम होता है कि बढ़ई या संगतराशों के पतन पर अफसोस होता है। बहुत से लुहारों का भी व्यवहार बहुत खराब होता है। और, हमारे सुनार कितने बद-नाम हैं, यह सब जानते हैं। किस-किस कारीगर का कच्चा चिट्ठा तैयार किया जाय, यह बड़ा नीरस और कष्टदायक कार्य है। हम लोग अपने आदर्श से कितने गिरे हुए हैं!

ईमानदारी का व्यवहार—आवश्यकता है कि प्रत्येक कारीगर अपनी कार्यपद्धति और व्यवहार की अच्छी तरह जाँच करे, और देखे

कि उसका कर्तव्य समाज के प्रति कहाँ तक पालन हो रहा है। क्या उसके व्यवसाय का उद्देश्य सिर्फ यही है कि किसी तरह ग्राहकों से कुछ पैसे ऐंठ लिए जायँ। धोखाधड़ी के व्यवसाय से उसके मन और आत्मा को क्या शान्ति मिल सकती है! कारीगर को याद रखना चाहिए कि समाज-संगठन में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। उसे अपने बहुत से भाइयों को अपनी बनाई हुई चीज़ें देकर समाज की उपयोगी सेवा करनी है। अगर वह सचाई, और ईमानदारी से काम करता है तो उसका कर्तव्य पूरा होता है। अन्यथा उसकी चीज लेकर जो आदमी समझता है कि मेरी ज़रूरत पूरी हो गई, उसे पीछे मालूम होता है कि मुझे धोखा हुआ, और मेरी ज़रूरत जितनी पूरी होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई। इससे समाज में अविश्वास का वातावरण बनता है; जिससे सब को कष्ट होता है और नैतिक पतन बढ़ता जाता है।

हमारे अधिकांश कारीगरों का व्यवहार ऐसी खुदगर्जी और बेईमानी का है, कि जो कोई उनकी बनाई चीज का उपभोग कर चुका है, उसके सामने वे प्रायः सिर उठाने का साहस नहीं कर सकते। उन्हें यह आशंका होती है कि वह हमें उलाहना दिए बिना न रहेगा। वे अपने मिलनेवालों से डरते रहते हैं। उन्हें यह चिन्ता रहती है कि कहीं हमारी चालाकी या धोखेबाज़ी दूसरों को न मालूम हो गई हो। अकसर यह होता है कि जिस कारीगर से हम एक बार कुछ काम करा लेते हैं, उससे हमारी सदा के लिए दुश्मनी सी हो जाती है। कारण, हमें उसकी बनाई चीज का जो कटु अनुभव होता है, वह जल्दी ही भुलाया नहीं जा सकता। हमारे मन में आता है कि भविष्य में इस कारीगर से हमें कभी काम न पड़े। बहुधा हम नए-नए कारीगर की तलाश में रहते हैं, और यह सोचते हैं कि शायद नया कारीगर पहले से अधिक होशियार और विश्वास-पात्र हो। उधर वह कारीगर भी जो हमें एक बार धोखा दे चुकता है, जब यह समझ लेता है कि हमारी भावना

उसके प्रति अच्छी नहीं रही है, हम से बचता सा रहता है। उसके मन में एक-एक करके बहुत से आदमियों से भय रहने लगता है, इससे उसे बड़ी अशान्ति और चिन्ता रहती है। उसका जीवन बहुत दुखमय बीतता है। और, क्योंकि वह अपना दुख किसी पर प्रकट नहीं करता, उसके मन पर यह भार बढ़ता रहता है।

व्यवसाय और चरित्र-निर्माण—इन बातों से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कारीगर को अपने सामने यह आदर्श रखना चाहिए कि वह जो चीज बनाए, वह इतनी सुन्दर और मजबूत हो, जितनी होसके। वह बाहर भीतर एकसी हो। जो आदमी उसे सिर्फ बाहर से देखे, उसको किसी प्रकार का धोखा न हो। हमारी चीजें सच्चाई ईमानदारी की द्योतक हों; उनसे ही दूसरों को हमारे चरित्र की झलक मिलेगी। कुछ पैसे अधिक पाने के लिए हम अपने चरित्र को, अपने जीवन को गिरानेवाले न हों। हमारा व्यवसाय जब इस आदर्श को सामने रखेगा तो हमारा तथा समाज का कितना हित-साधन होगा और हम कितने अच्छे आदमी बन जायँगे! हमें दूसरों से पद-पद पर शिकायतें या उलाहने मिलने की आशंका न होगी। हमें दूसरों से मुँह छिपाने की जरूरत न होगी, जैसी कि धोखेबाज और बेईमान कारीगरों को होती है, जो कुछ पैसों के खातिर अपना चरित्र बिगाड़ने को तैयार रहते हैं। हमें अपने काम से संतोष होगा, और हम समाज में स्वाभिमान से रह सकेंगे। हमें यह मानसिक आनन्द प्राप्त होगा कि हमने अपने व्यवसाय से अपने इतने भाई-बहनों की सेवा की। हमारे कारीगर याद रखें कि अगर कुछ पैसों की हानि हुई तो कुछ नहीं गया; अगर हमारे स्वास्थ्य की हानि हुई तो कुछ गया; पर अगर हमारा चरित्र गया तो सब कुछ गया। इसलिए चरित्र-रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है, और यह काम अपने व्यवसाय का आदर्श बनाए रखने से ही होगा।

———

सातवाँ अध्याय

कल-कारखाने वाले का आदर्श

पिछले अध्याय में कारीगर के आदर्श के बारे में विचार किया गया है। खासकर पिछली सदी से कल-कारखानों का प्रचार बढ़ रहा है। चाहे उनकी कार्यपद्धति में इस समय कितने ही दोष हों, हम उन्हें बन्द नहीं कर सकते; वे हमारी अर्थ-व्यवस्था के आवश्यक अंग हो गए हैं, उनके बिना काम नहीं चल सकता और आगे-आगे उनका महत्व और क्षेत्र बढ़ने ही वाला है। इस लिए हमारे वास्ते यह विचार करना बहुत आवश्यक है कि कल-कारखाने वाले का आदर्श क्या होना चाहिए।

कारखाने वालों का मुख्य लक्ष्य---हरेक कारखाना कुछ चीजें बनाता है; और बहुधा उन चीजों से लोगों की जीवन-रक्षक पदार्थों की आवश्यकता भी पूरी होती है। पर कल-कारखाने के मालिक के सामने यह विचार मुख्य नहीं होता, वह तो खास बात यह सोचता है कि कारखाना चलाने से उसे कितना लाभ रहता है। इसलिए वह अकसर विलासिता या शौकीनी की ऐसी चीज़ें बनाता है, जिनके बनाने में उसे अधिक-से-अधिक आमदनी होती है।

मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में सर्वसाधारण के लिए मोटे और सस्ते कपड़े की जरूरत है, यह जानते हुए भी यहाँ के बहुत से मिल-वाले जहाँ तक उनका वश चलता है बारीक और बढ़िया 'फैन्सी' कपड़ा तैयार करते हैं, क्योंकि उसमें उन्हें अधिक मुनाफा रहता है। सन् १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े किए जाने पर देश में जो स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन चला, उसमें कितने ही मिल-मालिकों ने

विलायती सूत के कपड़े अपनी मिलों में बना कर उन्हें स्वदेशी कह कर बेचा और खूब नफा कमाया था। मिल-मालिकों की मुनाफाखोरी पीछे नया-नया रूप धारण करती रही है। खेद है कि कितने ही बड़े-बड़े प्रतिष्ठित कहे जानेवाले पूँजीपति अब भी जनता की स्वदेशी-प्रेम की भावना से अनुचित लाभ उठाने से नहीं चूकते। वे घड़ी, फाउन्टेनपेन, टाइपराइटर, साइकल या मोटर आदि के कठिनाई से बनाए जानेवाले पुर्ज़े विदेशों से मंगा लेते हैं, और मामूली थोड़ी कीमत वाले अंग यहाँ तैयार कराकर सब को जोड़जाड़ कर 'भारतीय' या 'स्वदेशी' बताते हुए बाजार में रख देते हैं। देशप्रेमी दर्शक खुश होते हैं कि अब तो भारतवर्ष में स्वदेशी फाउन्टेनपेन, स्वदेशी घड़ियाँ, स्वदेशी मोटर, या स्वदेशी साइकल आदि भी बनने लग गई है। वे विदेशी चीजों की अपेक्षा अधिक दाम देकर भी इन्हें ही खरीदते हैं। इस तरह हमारे ये कारखाने वाले सहज ही ग्राहकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं, और खूब नफा कमाते रहते हैं। पैसे वाले होने के कारण इनकी धोखेबाजी की खुली निन्दा नहीं की जाती, और बहुतों को तो उसका जल्दी पता भी नहीं लगता। अस्तु, और कोई जानपावे या न जानपावे, वे खुद जानते हैं, उनकी आत्मा जानती है कि वे अपने देश-भाइयों को धोखा देते हैं, और उनकी कमाई पाप की कमाई है। क्या ऐसी बात किसी भले आदमी को शोभा देती है! यह तो उसके मन में अशान्ति और वेदना पैदा करती रहेगी।

मुनाफे के लिए विदेशी पूँजीपतियों से सहयोग—अफसोस! हमारे कल-कारखाने वाले इस विषय पर शान्ति और गम्भीरता से विचार नहीं करते। आज दिन कितने ही बड़े-बड़े पूंजीपति इस बात के लिए लालायित हैं कि अमरीका आदि के पूंजीपति जो कारखाने यहाँ खोलें, उनमें थोड़ा-बहुत साझा हमारा रख लिया जाय, जिससे मुनाफे

का कुछ हिस्सा हमें भी मिल सके। विदेशी पूँजीपति यहाँ की सस्ती मज़दूरी से लाभ उठाना चाहते हैं, और उनके देश में इतनी पूँजी है कि यदि वे उसे वहाँ ही किसी व्यवसाय में लगाते हैं तो उन्हें इतना मुनाफा नहीं रहता, जितना भारतवर्ष में कल-कारखाना चलाने से हो सकता है। इसलिए इन स्वार्थी पूँजीपतियों का भारतवर्ष में कारखाना खोलना और भारतीयों को 'स्वदेशी' या 'भारत में बना' माल देकर इस देश का शोषण करना स्वाभाविक है; लेकिन इस पाप-कार्य में भारतीय पूँजीपतियों का साझीदार बनना हमारा घोर पतन सूचित करता है।

युद्ध और संकट—स्वाधीन और औद्योगिक देशों के कल-कारखानों के मालिक पिछड़े हुए देशों के बाजारों को हथियाने के लिए बुरे-भले किसी भी तरह के उपायों को काम में लाने से बाज़ नहीं आते। ये अधिक से-अधिक माल तैयार करते हैं, और फिर उसे खपाने के लिए दुनिया भर के कमजोर देशों पर अपनी निगाह डालते हैं। इस कार्य में उनको अपने यहाँ की सरकारों का सहयोग मिल जाता है। इस तरह उस साम्राज्यवाद की सृष्टि होती है, जो विनाशकारी महा-युद्धों को जन्म देता है, और जिसके कारण संसार भर में त्राहि-त्राहि मच रही है। यदि कल-कारखाने वाले अपने सामने लोकहित और सेवा-भाव का आदर्श रखें तो जनता युद्ध की संकटमय परिस्थिति से सहज ही बच सकती है।

मजदूर-हित का उदाहरण—वर्तमान दशा में कल-कार-खाने वाले प्रायः मज़दूरों को कम-से-कम मजदूरी और कम-से-कम सुविधाएँ देना चाहते हैं, या यों कह सकते हैं कि वे उतनी ही मजदूरी और सुविधाएँ देते हैं, जितनी देने के लिए वे कानून से या परिस्थितियों वश वाध्य होते हैं। वे स्वेच्छा से उनके सुख और उन्नति का विचार नहीं करते। कितने कल-कारखाने वाले हैं, जो अमरीका के सुप्रसिद्ध

मोटर-कम्पनी के संस्थापक श्री हेनरी फोर्ड का यथाशक्ति अनुकरण करने को तैयार होंगे! "फोर्ड कई वर्षों से अपने यहाँ काम करनेवालों को ६ डालर अर्थात् लगभग ३० रु० रोज दे रहा है। सितम्बर १९४४ में अखबारों में यह खबर छपी थी कि फोर्ड अपने यहाँ काम करनेवालों को रोजन्दारी बढ़ाना चाहता है। ज्यों ही सरकार उसे बढाने देगी, वह ऐसा कर देगा। उसने यह एलान किया था कि जब तक वह जीवित है, वह मोटर-उद्योगों में ऊँची से ऊँची जो रोजन्दारी उठे, वह देना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति की इतनी आय होनी चाहिए कि उसका निज का घर हो, खेती के लिए पर्याप्त भूमि हो, और सहायता के लिए वह एक मोटर गाड़ी भी रख सके।" *

इस तरह की बातें भारतवर्ष के मिलमालिकों को आश्चर्यजनक प्रतीत होंगी; वे इन्हें अव्यावहारिक कहेंगे। परन्तु यदि वे इस दिशा में गम्भीरता से विचार करें तो वे धीरे-धीरे अपने व्यवहार में बहुत-कुछ सुधार कर सकते हैं। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि फोर्ड आदि अमरीकी व्यवसाइयों का दृष्टिकोण भी बहुत-कुछ व्यापारिक या स्वार्थमूलक है। वे मजदूरों को जो इतनी सुविधाएँ देते हैं तो इसका उद्देश्य यही है कि मजदूर अधिक कुशल और निपुण होकर उनके कारखाने की आमदनी बढ़ावें। इस प्रकार मजदूरों को अधिक वेतन या सुविधाएँ देने में मिल-मालिकों का फायदा ही है। वे अपनी आमदनी दस लाख रुपया बढ़ाते हैं और उसमें से दो-तीन लाख ही नहीं, पाँच-छः लाख रुपए भी मज़दूरों के वास्ते खर्च कर देते हैं तो भी वे नफे में ही रहते हैं। उनकी नीति से मज़दूरों को लाभ पहुँचता है, पर यह उनका मुख्य लक्ष्य नहा होता। उनकी खास नजर अपने मुनाफे पर रहती है। वे दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता से काम लेते हैं। पर यही काफी नहीं है।

* 'विश्वमित्र' में प्रकाशित, श्री० कस्तूरमलजी बांठिया के लेख से।

कारखाने वाला अपने आप को मज़दूरों का संरक्षक समझे—कारखाने वाले को चाहिए कि अपने यहाँ काम करनेवाले मज़दूरों का अपने आपको उसी प्रकार संरक्षक समझे, जिस प्रकार परिवार में कोई बड़ा-बूढ़ा, अपने आपको परिवार के सब सदस्यों का संरक्षक समझता है। वह उनके सुख-दुख का ध्यान रखे, और न केवल उनकी भोजन-वस्त्र आदि की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करे, वरन् उनकी उन्नति का भी प्रबन्ध करे। वह मजदूरों के मकान और स्वास्थ्य तथा चिकित्सा का इन्तजाम करे, और उनके बालकों की शिक्षा और मनोरंजन की भी व्यवस्था करे। मजदूरों की नैतिक उन्नति की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है; नहीं तो उन्हें जो वेतन मिलता है, उसे वे शराब आदि में उड़ा देंगे, और उनके पास अपने निर्वाह के लिए भी काफी द्रव्य न बचेगा। यदि कल-कारखाने वाले इन बातों की ओर समुचित ध्यान दें, और स्वार्थ-त्याग करके ईमानदारी से मजदूरों के संरक्षक का कर्तव्य पालन करें तो औद्योगिक जगत की अशान्ति दूर होकर समाज कितना सुखी हो जाय!

आवश्यकता है कि हरेक कारखाने वाला अपने यहाँ काम करने वालों को अपनी संतान की तरह समझे। बहुत से आदमी दूर-दूर से आकर उसके पास काम करते हैं. ये अपने घरबार और रिश्तेदारों से बिछुड़े हुए होते हैं, यदि इन्हें अपने मालिक का प्रेम और सहानुभूति भी न मिले तो फिर इन बेचारों के सुख-दुख की पूछनेवाला कौन है! कल-कारखानेवाले का काम है कि वह इनके प्रति ऐसा व्यवहार करे कि इन्हें अपने माता पिता या रिश्तेदार आदि की जुदाई न अखरे। अगर कोई मजदूर कभी बीमार पड़े तो उसकी सेवा-सुश्रूषा का यथेष्ट प्रबन्ध रहे; ऐसा न हो कि बीमारी के दिनों में उसे वेतन ही न दी जाय और उसे आर्थिक संकट भी सहना पड़े। हम यह सोचें कि अगर हमारा लड़का किसी समय काम करने के अयोग्य हो जाता है तो क्या उसकी

भोजन वस्त्र आदि की आवश्यकता पूरी नहीं की जाती। यह ठीक है कि साधारण रीति के अनुसार हम मजदूर से कम-से-कम मजदूरी पर काम करा सकते हैं, और हम पर इस बात की कोई कानूनी जिम्मेवरी नहीं है कि जो मजदूरी (वेतन) हम देते हैं, उससे उसका तथा उसके परिवार का निर्वाह हो। दैनिक वेतन पानेवालों को हम कुछ समय पूर्व सूचना देकर काम से हटा सकते हैं; पर काम से हटने पर उन मजदूरों का काम कैसे चलेगा, यह भी तो सोचना चाहिए। जब यह कहा जाता है कि कल-कारखाने वाले को उसके यहाँ काम करनेवालों का संरक्षक होना चाहिए, तो उसमें यह बात आ ही जाती है।

कल-कारखाने वालों के इस ओर कर्तव्य पालन न करने से समाजवाद की चर्चा बढ़ती जा रही है—कल-कारखानों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार न रहे; सबका राष्ट्रीकरण हो, अर्थात् उनका संचालन राज्य द्वारा हो ; कल-कारखानों से जो माल पैदा हो, उसका वितरण राज्य लोकहित की दृष्टि से करे। यदि कल-कारखाने वाले स्वयं ही कारखाने की आमदनी का उपयोग श्रमजीवियों के हित के विचार से करने लगें, और अपना निजी स्वार्थ छोड़ दें तो राज्य को यह कार्य सौंपे जाने की आवश्यकता या अनिवार्यता न रहे।

ट्रस्टीपन का सिद्धान्त—म० गांधी का विचार है कि कल-कारखाने वाले अपनी पूँजी का मालिक अपने आप को न समझें, वरन् जनता अर्थात् श्रमजीवियों को ही समझें। वे पूँजीपति उसके सिर्फ ट्रस्टी या संरक्षक के रूप में रहें; उसमें उनका अधिकार इतना ही होगा, जितना समाज किसी एक व्यक्ति को देना उचित समझेगा। श्री० किशोरलाल मश्रूवाला ने ट्रस्टी का सिद्धान्त समझाते हुए कहा है कि 'जिस तरह हरेक आदमी का कम-से-कम मेहनताना तय करने की ज़रूरत है (जिससे उसका और उसके आश्रित परिवार के व्यक्तियों का निर्वाह हो सके), वैसे ही अधिक-से-अधिक आमदनी ठहराने की भी

ज़रूरत है; और, इन दो आमदनियों का फर्क धीरे-धीरे घटाना होगा। आदर्श व्यवस्था तो यह है, जिसमें सभी की आमदनी एकसी हो। पर वह न हो, तो भी अमर्यादित व्यक्तिगत आमदनी नहीं होनी चाहिए।'

इस सिद्धान्त को अमल में लाने से लाभ—ट्रस्टीपन का सिद्धान्त मान लेने से यह प्रश्न स्वयं ही हल हो जाता है कि माल कैसा बनाया जाय और कितना बनाया जाय; क्योंकि इन प्रश्नों का निर्णय लोकहित की दृष्टि से किया जायगा। आज दिन जो विलासिता या शौकीनी आदि का सामान पैदा किया जाता है, उसका कारण यही है कि कल-कारखाने वाला अपने आपको सारी पूँजी का, और उससे होनेवाले मुनाफे का अधिकारी समझता है; और इस लिए वह ऐसा माल तैयार कराता है जिससे चाहे लोकहित न हो, पर मुनाफा अवश्य हो, और वह भी अधिक-से-अधिक। मुनाफे के विचार से ही बहुत से पूँजीपति अपने कल-कारखानों का माल दूसरे देशों पर जबरदस्ती लादते हैं, और इस प्रकार वे अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घर्ष, महायुद्ध और अशांति पैदा करते हैं।

बेहद मुनाफे की खातिर ही कल-कारखाने वाले कम टिकाऊ माल तैयार करने को प्रेरित होते हैं। इसका कटु अनुभव जनता को समय-समय पर होता रहता है। पिछले दिनों, महायुद्ध के समय तो बहुत ही बुरा अनुभव हुआ। यह ठीक है कि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीय सरकार न होने से यहाँ उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए जितनी सुविधाएँ चाहिएँ, उतनी नहीं थी। पर जैसी परिस्थिति थी; उसमें भी यदि कल-कारखानेवाले चाहते तो बहुत-कुछ उन्नति कर सकते थे। परन्तु उन्होंने अपने स्वार्थवश ऐसा न किया। वे धन कमाने में लगे रहे। यद्यपि उनकी बढ़ी हुई आय का खासा भाग सरकार ने ले लिया, तो भी ऐसे पूँजीपति कम हैं, जिन्होंने खूब धन पैदा न किया हो।

परन्तु कितने कल-कारखाने वाले ऐसे हैं, जिन्होंने अपने माल की प्रामाणिकता पर ध्यान दिया हो, और उसे पहले से अधिक मजबूत अच्छा और बढ़िया बनाने की कोशिश की हो। हमने बहुत दुख के साथ देखा है कि जहाँ युद्ध-काल में पदार्थों की कीमत तिगुनी-चौगुनी या इससे भी अधिक हो गईं (इसके लिए हम कारखाने वालों को विशेष दोष नहीं देते), पदार्थ भी पहले की अपेक्षा बहुत खराब बनाए गए। किसी-किसी ने अपने माल पर 'युद्ध-काल का' ('वार क्वालिटी') छाप लगादी। पर इससे वे दोष-मुक्त नहीं हो सकते। भारतवर्ष के देशी उद्योग-धन्धों की उन्नति का अवसर आया था, कारखाने वालों ने लोभ-वश उसे गँवा दिया। इस प्रकार वे देश के प्रति अहितकर कार्य करने के अपराधी हैं। यह सब बुराई इसलिए हुई कि उन्होंने अपने सामने ट्रस्टीपन का सिद्धान्त नहीं रखा, और अपने निजी लाभ को प्रधानता दी।

विशेष वक्तव्य—संक्षेप में कल-कारखानेवाले का आदर्श यह होना चाहिए कि अपने आपको कारखाने का ट्रस्टी समझे; कारखाने में काम करनेवालों के सुख-दुख का ध्यान रखे; उनके भोजन, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा आदि की व्यवस्था करे, और ऐसा तथा इतना माल बनाए जो लोकहित की दृष्टि से आवश्यक हो।

आठवाँ अध्याय

व्यापारी का आदर्श

———

यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना—चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कह कर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के लिए जान देता है, उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन लगा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिएँ।

—सर्वोदय

व्यापार का उद्देश्य—व्यापार दो तरह का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार वह व्यापार है, जो देश की सीमा के भीतर, एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से, या एक गाँव या नगर का दूसरे गाँव या नगर से होता है। विदेशी व्यापार, दूसरे देशों से आनेवाले या दूसरे देशों को जानेवाले माल का व्यापार है। दोनों तरह के व्यापार का उद्देश्य यह होना चाहिए कि एक जगह जो चीज़ आवश्यकता से अधिक है, उसे दूसरे ऐसे स्थान में ले जाय जाय, जहाँ वह कम है, और इस तरह वहाँ के लोगों की उस वस्तु सम्बन्धी आवश्यकता पूरी की जाय। अनेक बार ऐसा होता है कि किसी जगह वर्षा कम होने से, या बहुत अधिक होने से, अथवा बाढ़ आने से, या ओले पड़ जाने आदि के कारण नाज की फसल काफी पैदा नहीं होती, या मारी जाती है। अब यदि इन लोगों को दूसरे स्थानों से अनाज की सहायता न मिले तो यहाँ के आदमियों को अकाल या दुर्भिक्ष का सामना करना पड़े और बहुतेरे आदमी भूख के कारण अपने प्राण खो बैठें। उनको इस मुसीबत से बचाने का काम व्यापारियों

का है। वे यह मालूम करें कि किस जगह अनाज अधिक है; और वहाँ से अनाज लाकर वे अकाल-पीड़ित आदमियों की रक्षा करें। व्यापारी दुर्भिक्ष के स्थानों में अनाज पहुँचाते तो हैं पर प्रायः इस में उनका उद्देश्य लोकसेवा न होकर धन कमाना होता है। जो व्यापारी वास्तव में, सेवा-भाव से यह काम करते हैं, उनकी संख्या बहुत कम होती है।

मुनाफे के लिए विदेशी वस्तुओं का व्यापार—बहुत से व्यापारी अपने देश के बाजारों को विदेशी माल से पाट देने में कुछ भी संकोच नहीं करते, चाहे उससे उनके देश वालों का कुछ भी हित न होता हो, वरन् बहुत हानि ही होती हो। इन लोगों की निगाह अपने मुनाफे पर रहती है, इन्हें इससे कुछ मतलब नहीं कि जो चीज़ें हम दूसरे देशों से मँगाते हैं, उनसे हमारी कारीगरी और उद्योग-धंधे नष्ट होते हैं, और बहुत से भाइयों को अपने रोटी-कपड़े से हाथ धोना पड़ता है। लोभी व्यापारियों के कारण हमारे देश में विलासिता या शौकीनी की नई-नई चीज़ें आती रहती हैं, जिनमें यहाँ का बेशुमार धन खर्च होता है या जिनके बदले हमें अपना बहुत-सा कच्चा माल देना पड़ता है, और हमारे लाखों आदमियों को बेकार रहना और भूखे मरना होता है।

मनुष्य का स्वभाव है, या यों कहे कि उसकी कमजोरी है कि वह प्रायः विलासिता, शौक, आडम्बर, तथा नशे आदि की चीज़ों की ओर बहुत जल्दी आकर्षित हो जाता है, और अकसर उन्हें खरीदने के लिए उस द्रव्य को भी खर्च कर डालता है, जो उसे अपने तथा अपने बच्चों के भरण-पोषण, शिक्षा या स्वास्थ्य आदि के लिए खर्च करना चाहिए। हमारे व्यापारी इस मानव निर्बलता का अनुचित लाभ उठाते हैं और अपने स्वार्थवश विदेशी वस्तुओं का व्यापार करके अपने अनेक भाइयों का जीवन संकटमय बनाते हैं। वे जानते हैं कि विदेशी वस्तुओं के व्यापार में मुनाफे की गुंजायश ज्यादा रहती है; यहाँ के साधारण दुकानदारों को उनकी असली कीमत, तथा उनके मँगाने में होनेवाला

किराए या महसूल आदि का खर्च ठीक मालूम नहीं होता। व्यापारी इसमें खूब अत्युक्ति कर सकते हैं। इस तरह वे यहाँ के छोटे दुकानदारों से खूब कस कर दाम लेते हैं, और ये दुकानदार अपने ग्राहकों से उस कीमत को अपने काफी मुनाफे आदि के साथ वसूल करते हैं। भोलेभाले ग्राहक बुरी तरह ठगे जाते हैं, और दुख पाते हैं। और, इसका कारण? व्यापारियों का स्वार्थ, उनकी अपने आदर्श की अवहेलना।

व्यापारियों द्वारा अकाल की सृष्टि—समय-समय पर यह कटु अनुभव होता है कि व्यापारी फसल के मौके पर अन्न सस्ते भाव खरीदकर जमा लेते हैं, और इस बात की प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब उनके यहाँ, या किसी दूसरी जगह अकाल पड़े, और उन्हें अपने माल का मुँह-माँगा दाम मिले। उनका उद्देश्य बिना विशेष परिश्रम किए, धनवान बनना होता है। जब तक इन्हें मनचाहा मुनाफा नहीं मिलता, ये अपना माल जनता से छुपाए रखते हैं, और यदि सरकार इनसे इनके स्टाक का विवरण माँगती है तो ये कुशलता-पूर्वक गलत हिसाब दे देते हैं। ये अधिकारियों को घूँस देकर मिलाने की कोशिश में रहते हैं, और जब कभी अधिकारी भी रिश्वतखोर होते हैं तो व्यापारियों के पौवारे ही हैं। लोभी व्यापारियों और रिश्वतखोर कर्मचारियों के मिल जाने पर सरकार द्वारा की हुई मूल्य-नियंत्रण या निर्यात-निषेध की योजना भी सफल नहीं हो सकती।

उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष में, दूसरे महायुद्ध के समय (सन् १६३६-४५) यह देखने में आया कि ज्योंही सरकार ने किसी चीज़ का कन्ट्रोल या मूल्य-नियन्त्रण किया, त्यों ही वह चीज बाजार में बहुत कम रह गई और उसका चोर-बाजार चमक उठा। चोर-बाजार में व्यापारियों ने चीज़ के मनमाने दाम माँगे। अधिकांश आदमी उतना दाम न दे सकने के कारण, उसके लिए तरसते रह गए। चीज की

विशेष कमी न होने पर भी साधारण लोगों के लिए उसका अकाल हो गया। यह अकाल दैवी या प्राकृतिक न होकर बहुत-कुछ व्यापारियों द्वारा बनाया हुआ था; कहीं-कहीं इस पाप-व्यवसाय में अधिकारियों का भी काफ़ी भाग रहा। कहने का मतलब यह कि अगर व्यापारी दृढ़ता-पूर्वक सचाई और ईमानदारी से काम लें और अपने आदर्श का यथेष्ट ध्यान रखें तो इस तरह के अकालों से जनता सहज ही मुक्ति पा सकती है। यही नहीं; सच्चे व्यापारी तो दैवी या कुदरती अकाल का संकट हटाने में भी बहुत-कुछ सफल हो सकते हैं, और उनका यह कर्तव्य ही है कि किसी भाग की जनता को किसी आवश्यक पदार्थ की विशेष कमी का अनुभव न करने दें।

मुनाफा या मानवता ?—लेकिन इस बात को कितने आदमी सोचते और अमल में लाते हैं! व्यापार का तो मूल मंत्र ही यह मान लिया गया है कि सस्ते-से-सस्ते भाव में खरीदना, और महँगे-से-महँगे स भाव में बेचना। दुनिया की नजर में सफल होने के लिए व्यापारी बहुधा गम्भीरता से इस बात का विचार नहीं करता कि जो आदमी अपनी चीज उसे सस्ते-से-सस्ते भाव देरहा है, या व्यापारी से कोई चीज महँगे भाव खरीद रहा है, वह किस दशा में है; क्या उसकी दीन दशा या लाचारी से लाभ उठाना उचित है। हम लोग जब व्यापार-कार्य आरम्भ करते हैं, उसी समय से अपनी मानवता को तिलांजलि दे देते हैं। हम तो सिर्फ एक बात याद रखते हैं—मुनाफा, मुनाफा और अधिक मुनाफा! खरीदने में भी मुनाफा, और बेचने में भी मुनाफा। और 'अधिकस्य तु अधिकम् फलम्'। बहुत मुनाफा लेने, सस्ता खरीदने, और महँगा बेचने की नीति कहाँ तक ठीक है!

कल्पना करो कि एक किसान को किसी सूदखोर महाजन का बहुत सा कर्ज़ चुकाना है, उसे कहीं से रुपया उधार मिलने की आशा नहीं। उधर लगान चुकाने का समय आगया। यदि लगान नहीं चुकाया

जाता तो, किसान को बेदखली का भय है। वह चाहता है कि महाजन और जमींदार इन दोनों से नहीं तो कम-से-कम जमींदार के चंगुल से तो छुटकारा पा जाऊं। उसके पास देने के लिए अपनी फसल के सिवाय और कुछ नहीं है। वह व्यापारी के हाथ उसे बेचना चाहता है। क्या व्यापारी को उस अभागे किसान की हालत पर कुछ दया न कर, अपना सस्ते-से-सस्ते भाव से खरीदने का विवेक-हीन कार्य करना चाहिए!

दूसरी तरह का उदाहरण लें। एक गाँव में भयंकर अकाल है, आदमी जंगली अन्न, पेड़ों के पत्ते, जड़ें, या शाक भाजी आदि खाकर गुज़ारा कर रहे हैं। आखिर, ये चीजें कम रहे जाने से हर रोज कितने ही आदमी मरने लगते हैं, और बहुत से स्त्री-बच्चे बीमार पड़े जाते हैं। इस गाँव के कार्यकर्त्ताओं को मालूम होता है कि कुछ दूर एक व्यापारी के पास इतना अनाज है कि उससे इन लोगों का संकट टल सकता है। ये कार्यकर्ता उस व्यापारी के पास पहुँचते हैं, और जो थोड़ा बहुत धन ये अपने गाँव भर से संग्रह कर सके हैं, उसे व्यापारी के चरणों में रखकर उससे अन्न की याचना करते हैं। क्या व्यापारी अब महँगे-से-महँगे भाव बेचने के मंत्र का जाप करता रहे! क्या वह अपने पास अन्न का भंडार होते हुए भी अनेक नागरिक बंधुओं को बेआई मौत मरने दे! क्या यह आवश्यक नहीं है कि व्यापारी यह याद रखे कि वह पहले मनुष्य है, फिर व्यापारी; और व्यापारी होने के कारण उसे मानवी गुणों का परित्याग शोभा नहीं देता!

•

व्यापार का गौरव बढ़ाने की आवश्यकता—व्यापार में लोभ-लालच बहुत अधिक होते देखकर लोगों की यह धारणा हो चली है कि व्यापार में झूठ और चालाकी आदि के बिना काम ही नहीं चल सकता। आदमी अपने मन से लोक-सेवा का भाव हटा

कर जनता को खूब लूटते हैं, और काफी धन कमाने पर अपने आपको 'सफल व्यापारी' समझते हैं। अन्य व्यवसायों की भांति व्यापार से अपना निर्वाह करना और इस लिए कुछ धन कमाना बुरा नहीं; बुराई तो इस बात में है कि अपने स्वार्थ को इतनी प्रधानता देना कि उसके सामने अपना कर्तव्य, अपने जीवन का ध्येय, और अपना आदर्श सब भुला दिया जाय। हम याद रखें कि व्यापार हमारे मानवी गुणों के विकास का साधन है, इस लिए जब आश्यकता हो, हमें न सिर्फ अपने मुनाफे को छोड़ने के लिए, वरन् अपनी ईमानदारी से कमाई हुई सम्पत्ति का भी त्याग करने के लिए, तैयार रहना चाहिए। ऐसे व्यापारी काफी संख्या में होने पर ही व्यापार-कार्य का गौरव बढ़ सकता है। क्या व्यापारी बंधु अपने आदर्श का ध्यान रखकर इस दिशा में प्रगति करने का परिचय देंगे?



नवाँ अध्याय

दुकानदार का आदर्श



अगर आपकी दुकान का माल सच्चा है तो लोग अवश्य आपके पास आवेंगे। आपका भी लाभ होगा, उनका भी लाभ होगा।

— बाबू श्रीप्रकाश

समाज-व्यवस्था में दुकानदार का स्थान—पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि व्यापारी एक जगह की चीज़ों को दूसरी जगह ले जाते हैं, जहाँ उनकी अधिक आवश्यकता होती है, वे अपना माल छोटे व्यापारियों को बेच देते हैं, और छोटे व्यापारियों से माल दुकानदार खरीद लेते हैं। दुकानदारों का काम है कि विविध वस्तुओं को अच्छी तरह

संग्रह करके रखें, और उन्हें ग्राहकों को उनकी आवश्यकतानुसार देते हुए समाज-सेवा में भाग लें। यह स्पष्ट ही है कि यदि दुकानदारों का सहयोग न मिले तो जनसाधारण को अपनी रोजमर्रा की ज़रूरतें पूरी करने और अपना काम चलाने में बहुत कठिनइयाँ उपस्थित हों।

स्वार्थ-साधन के लिए धोखाधड़ी—खेद है कि दुकानदार अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए ग्राहकों को तरह-तरह से धोखा दिया करते हैं। वे अपने माल को इस तरह सजाकर रखते हैं कि चीज का खराब हिस्सा ढका रहता है; और देखनेवालों को वह चीज अच्छी मालूम होती है। बहुत सी चीजें ऐसी होती हैं कि उनके बारे में जल्दी ही या आसानी से यह पता नहीं लगता कि वे नई हैं, या पुरानी। जब दुकानदार उन्हें अच्छी और नई बताता है तो ग्राहक को उसका अविश्वास करने का कारण नहीं होता, और वह सहज ही ठगा जाता है। जो माल डिब्बों या बक्सों में रहता है, उसको चालाक दुकानदार अकसर इस तरह रख देता है कि माल ऊपर कुछ और होता है, भीतर कुछ और। वह संख्या या वजन में कुछ कम कर देता है, और कभी-कभी बीच में कुछ चीजें खराब या टूटी फूटी लगा देता है। ग्राहक को इन बातों की बारीकी से जाँच करने का अवकाश नहीं होता; और यही तो दुकानदार चाहता है।

पदार्थों में मिलावट— खाने-पीने की चीजों के शुद्ध और ताजी होने की कितनी आवश्यकता है, यह सब जानते हैं। लेकिन दुकानदारों के अनुचित लोभ के कारण, ये चीजें बाजार में कितनी खराब और मिलावट वाली मिलती हैं, इसका भुक्त-भोगियों को बुरा अनुभव है। दुकानदार इस बात की पूरी कोशिश करता है कि जैसे भी हो, चीज का रूप-रंग सुन्दर और आकर्षक हो जाय, चाहे वह यथेष्ट गुणकारी न रहे। बात यह है कि साधारण ग्राहक को चीज़ के असली गुण-दोष की परख नहीं होती; वह जिस चीज़ को सुन्दर पाता है, उसी

की ओर आकर्षित हो जाता है; फिर अगर वह चीज़ सस्ती भी हो तो ग्राहक उसे खरीद ही लेता है। हमारे दुकानदार ग्राहकों के इस मनोविज्ञान को जानते हुए इससे खूब लाभ उठाते हैं। इसलिए बाजार में अरहर आदि की दाल बहुधा तेल और सेलखड़ी से चिकनी और चमकीली की हुई बेची जाती है। तिल या सरसों के, मिल से निकाले हुए तेल में मूँगफली आदि का सस्ता तेल मिला हुआ होता है; और यह ज्यादा दिन का होने पर खराब न हो जाय, इसलिए उसमें कुछ रासायनिक द्रव्य मिला दिए जाते हैं। यह स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर होता है। बहुत से स्थानों में हल्दी, सोंठ, इलायची और दाल आदि को खास तरह से रङ्ग कर बेचा जाता है, इससे वे चीजें कुछ अच्छी दिखाई देने लगती है; वैसे उनकी उपयोगिता नहीं बढ़ती, बल्कि घटती ही है। गेहूँ के आटे में दूसरा घटिया आटा मिला हुआ होना साधारण बात है। बाजार में घी दूध शुद्ध मिलना तो प्रायः कठिन ही हो गया है। यद्यपि इन चीज़ों में मिलावट न होने के लिए बहुत से स्थानों में सरकारी कानून बने हुए हैं पर लाभी दुकानदार उन कानूनों से बचने का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते है। दूध में पानी कहाँ तक मिलाया जा सकता है, और घी में किन-किन चीज़ों की मिलावट हो सकती है, इसका साधारण बुद्धि वाले ग्राहक को अनुमान भी नहीं हो सकता। स्वार्थी दुकानदारों ने बाजारू चीजों को इतना बदनाम कर दिया है कि अब आदमी आम तौर से यह मानने लगे हैं कि घी दूध तो अपने घर का ही शुद्ध हो सकता है; बाजार में उसके बेमिलावट होने की आशा नहीं की जा सकती।

ऊपर हमने खाने-पीने की कुछ साधारण चीजों की बात कही है; जब कई चीज़ों से एक पदार्थ तैयार किया जाता है तो उसकी परीक्षा और भी कठिन होती है। हमें अकसर दूसरे शहरों में जाने-आने का काम रहता है, और वहाँ बाजार से मिलनेवाली खाने की चीज़ों पर

निर्वाह करना पड़ता है। हमें होटल में, या हलवाई से पूरी, मिठाई, या नमकीन चीज़ें लेकर खानी होती है। पर कौन जाने, पूरी में आटा किस-किस अन्न का होगा, या उसमें कितनी मिट्टी आदि मिली होगी, घी कितने दिन का या कैसा होगा, और दूध कितना घटिया होगा। अचार, चटनी, मुरब्बों का भी यही बात है। इस प्रकार इन चीज़ों के दुकानदार जनता के स्वास्थ्य को कितनी क्षति पहुँचाते हैं, जबकि इनका कर्तव्य—और हरेक व्यवसायी का कर्तव्य—लोक-सेवा करना है।

ईमानदारी की आवश्यकता—यह तो चीजों में मिलावट होने की बात हुई। दुकानदारों के छल-कपट आदि के व्यवहार से ग्राहक को प्रायः यह आशा भी नहीं होती कि उसे चीज़ ठीक उतने परिमाण में मिल जायगी, जितने के उसने दाम दिए हैं। दी जाने-वाली चीज को कम तोलना, और ली जानेवाली को अधिक—यह तो हमारे व्यापार-जगत की साधारण घटना है। यदि संयोग से कोई ऐसा अवसर आ जाय कि हमें एक दुकानदार से पाँच-दस मन पदार्थ खरीद कर दूसरे दुकानदार के हाथ उसे बेच देना हो तो हमें दुकानदारों के तोल की चालबाजी का सहज ही अनुभव हो सकता है। जब हम बजाज के यहाँ से कपड़ा लाकर दर्जी को सीने के लिए देते हैं, तो दोनों के माप का अन्तर हमेशा ही हमारे सामने आता है!

चीजों का भाव ताव करने की रीति भी बहुत चिन्ताजनक है। हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित किए हुए नहीं रहते। दुकानदार चीज़ के अधिक-से-अधिक दाम माँगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ-ना के बाद उक्त दोनो दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की ऐसे साधारण बात बन गई है कि प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पर इसमें कितना समय और शक्ति नष्ट होती है! बाजार से सौदा लाना कितना कठिन काम हो गया है! भोले-भाले आदमियों की तो

बात ही क्या, कभी तो अच्छे-अच्छे होशियार भी ठगे जाते हैं। दुकानदारों को चाहिए कि हरेक चीज के दाम निश्चित करके रखें। जिस चीज पर उसकी कीमत लिखी जानी या कीमत की चिट लगानी सम्भव हो, उस पर ऐसा किया जाय। दुकान की मुख्य-मुख्य वस्तुओं की कीमत की सूची दीवार पर टंगी रहे, जिसे ग्राहक आसानी से देख सकें। कीमत निश्चित करने में चीज की लागत, उसे मँगाने का खर्च, 'महसूल, तथा दुकान के किराए या खर्च के अलावा साधारण मुनाफा जोड़ लिया जाना चाहिए।

अगर हमारा माल अच्छा शुद्ध, और बढ़िया है, हम तोल-माप में ईमानदारी से काम लेते हैं, चीज के दाम ठीक निश्चित किए हुए रखते हैं, मुनाफा मामूली लेते हैं, किसी को ठगते नहीं तो हमारी दुकान चलने का पूरा-पूरा भरोसा है। हमारा यह मतलब नहीं कि हम मालामाल हो जायँगे; पर साधारण तौर से हमारा निर्वाह हो जायगा, इसमें विशेष शका नहीं। असल में ईमानदारी और सच्चाई के व्यवसाय में इससे अधिक की आशा नहीं करनी चाहिए। अपने आदर्श के अनुसार व्यवहार करनेवाले को बहुत धन जोड़ने का ख्याल नहीं होना चाहिए। नीतिकार ने ठीक कहा है—'बिना दूसरे के मर्म-स्थान का भेदन किए; बिना दुष्कर या कठोर कर्म किए, बिना मछुए की तरह निर्दय होकर हिन्सा किए बहुत धन दौलत नहीं मिल सकती।'

आय बढ़ाना अनुचित नहीं, पर लोकसेवा का ध्यान रहे— दुकानदार का अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करना अनुचित नहीं; शर्त यही है कि उसका प्रत्येक प्रयत्न ईमानदारी, सचाई और लोकहित के भाव से हो। इस विचार से यदि दुकानदार अपनी चीजों का विज्ञापन या इश्तहार छपाता है, या बटवाता है तो इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं। परन्तु किसी दुकानदार को अपनी चीज की

प्रशंसा बहुत बढ़ा-चढ़ा कर न करनी चाहिए। उसे ग्राहकों को झूठे प्रलोभनों में न फँसाना चाहिए। आजकल प्राय: विज्ञापनों में इतनी अत्युक्ति होती है, उनमें इतना अधिक झूठ मिला होता है कि बहुत से लोगों का विज्ञापनों पर से विश्वास उठ गया या उठता जा रहा है, विज्ञापनबाजी का अर्थ झूठा बखान हो गया है। अच्छे, सच्चे दुकानदारों को अपने व्यवहार से जनता की इस धारणा में परिवर्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अन्य विचारणीय बातें—कुछ दुकानदार अपनी दुकान की ओर ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अश्लील चित्रों का आसरा लेते हैं। मिसाल के तौर पर पान बीड़ी, सिग्रेट, सोडावाटर और शर्बत या ठंडाई आदि की दुकानों पर बड़े-बड़े आकार की अश्लील तसवीरें लगी रहती है। भला इन तसवीरों का उक्त दुकानों से क्या सम्बन्ध, जब कि दुकानें तस्वीरों की तो हैं नहीं। खेद है कि ऐसे चित्र दुकान जमाने या चलाने के साधन समझे जाते हैं। दुकानदारी का आधार तो सच्चा खरा व्यवहार और लोक-हित की भावना होनी चाहिए।

हमारे बहुत से दुकानदार दिवाली के दिन या नया साल शुरू होने के समय अपने वर्ष भर के नफे-नुकसान का हिसाब लगाया करते हैं, और यह मनाया करते हैं कि अगला वर्ष शुभ हो, आगे खूब लाभ हो। आवश्यकता है कि हम समाज के नफे-नुकसान का विचार करें जो हमारे द्वारा साल भर में हुआ है। हम आर्थिक बजट बनाया करते हैं; ज़रूरत है कि हम अपने नैतिक बजट का विचार करें। दुकानदारों का दीवाली या नए साल का दिन उनकी जीवन-यात्रा की मंजिल तय करने के लिए उसी प्रकार सहायक होना चाहिए, जैसे तीर्थस्थान को जाते हुए यात्री के लिए फासला बतानेवाले मील के पत्थर। तभी वे अपने आदर्श के अधिक-से-अधिक नजदीक रहने में सफल होंगे।

———

दसवाँ अध्याय

चिकित्सक का आदर्श

वैद्य को अनेक संकट सहकर भी अपने रोगी का उपचार करना चाहिए।..... प्लेग के समय भाग जाने के बदले, जब तक भी सम्भव हो, उसे रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

रस्किन

आधुनिक समाज में चिकित्सक एक आवश्यक अंग है—आदमियों को अपने निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की ज़रूरत होना तो स्वाभाविक ही है। पर आधुनिक समाज में बहुत से आदमियों को इन्हीं चीज़ों की तरह, औषधियों की भी जरूरत रहने लगी है; यहाँ तक कि जिस तरह किसान, कारीगर, दुकानदार आदि समाज के आवश्यक अंग हैं, उसी तरह चिकित्सकों के बिना भी कोई समाज पूरा नहीं कहा जा सकता। आज-कल चिकित्सकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, तो भी समाज में उनकी माँग बनी ही रहती है।

चिकित्सक का कार्य; दवाइयों की खपत बढ़ाना?—चिकित्सक का कार्य क्या है? उसके जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए? समाज में उसके जिम्मे यह काम है कि लोगों का स्वास्थ्य ठीक रखे; कोई आदमी यथा-सम्भव बीमार न हो, और जब कोई बीमार पड़े तो शरीर-विज्ञान की जो जानकारी हासिल हो चुकी है, उसके आधार पर उसका जल्दी-से-जल्दी इलाज किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि तन्दुरुस्ती के लिए खास तौर से जरूरी बातें ये हैं—सादा, ताजा और ऋतु के अनुसार पौष्टिक भोजन, शारीरिक परिश्रम या व्यायाम, काफी समय का विश्राम या नींद, खुली और ताजी हवा में रहना, कुछ अंश में धूप का सेवन, और मन की शान्ति तथा सन्तोष और प्रसन्नता।

यदि हम इन बातों का उचित ध्यान रखें तो बीमार पड़ने का अवसर बहुत कम आवे। लेकिन आदमी अपने अज्ञान या गरीबी के कारण इन बातों की उपेक्षा करते हैं, बहुत-कुछ कृत्रिम जीवन बिताते हैं, प्रकृति से दूर रहते हैं। इसका परिणाम यह है कि आदमी बारबार बीमार पड़ते हैं और वैद्यों या डाक्टरों की शरण लेते हैं। और, ये तो हरेक बीमारी के लिए कुछ-न-कुछ दवाई बताने को तैयार ही रहते हैं; मानो इनका मुख्य कार्य दवाइयों की खपत बढ़ाना ही है।

जबकि आदमी प्रायः प्रकृति से दूर रहने के कारण बीमार होते हैं तो उन्हें शौकीनी और विलासिता से बचने और सादगी तथा संयम से रहने का परामर्श दिया जाना चाहिए। पर यह कम ही होता है; वैद्यों और डाक्टरों की 'कृपा' से हमारे शरीर में न जाने क्या-क्या चीजें पहुंचाई जाती है। एक के बाद दूसरी औषधि का प्रयोग किया जाता है, यहाँ तक कि बहुत से आदमियों को मामूली औषधियाँ तो नित्य लेते रहने की आदत पड़ जाती है। वे मानो खुराक बन जाती हैं। इन लोगों के लिए वे विशेष गुणकारी नहीं रहतीं; इन्हें अधिकाधिक तेज़ दवाइयों की ज़रूरत होती है।

समाज को रोग-मुक्त करने के उपाय—यदि चिकित्सक इस बात को याद रखें कि बीमारी का इलाज करने से अच्छा यह है कि बीमारी होने ही न दें, और इस बात को याद रखते हुए समाज में स्वास्थ्य-सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार करने का कष्ट उठाया करें तो निस्सन्देह समाज कहीं अधिक रोग-मुक्त हो, और सुख का अनुभव करे। इस तरह की व्यवस्था होने से आदमी इस समय की अपेक्षा अधिक तन्दुरुस्त होंगे। इसका यह मतलब नहीं कि आदमी बीमार ही न होंगे। आदमी की शरीर-रचना इस प्रकार की है कि यथेष्ट सावधानी बर्तने पर भी वह कभी-कभी बीमार पड़ सकता है। इसके अलावा, कुछ दशाओं में आकस्मिक घटनाएँ भी ऐसी होती रहती हैं, जिनसे आदमी

बीमार हो जाते हैं—मिसाल के तौर पर किसी जहरीले जानवर का काटना, चोट-चपेट लगना, नदी में बाढ़ आजाना, किसी ऋतु में सर्दी या गर्मी बहुत ही अधिक हो जाना आदि। ऐसे अवसरों पर चिकित्सकों का कर्तव्य है कि लोगों का तन-मन से इलाज करें। उनका उद्देश्य अपने भाइयों को जल्दी-से-जल्दी निरोग करना होना चाहिए, न कि उन्हें बहुत दिन तक बीमार रख कर अपनी आमदनी बढ़ाते रहना। अन्य व्यवसाय करनेवालों की तरह वैद्य और डाक्टर को भी अपने निर्वाह के लिए कुछ द्रव्य चाहिए, इस लिए उनका रोगियों से औषधि के दाम के अलावा कुछ मुनाफा या फीस लेना अनुचित नहीं, पर उनकी दृष्टि प्रधानतया इसी ओर रहना अपने आदर्श को गिरा देना है। कल्पना करो कि कोई गरीब माता जिसके पास अपने गुजारे का भी काफी साधन नहीं है, अपने बच्चे के लिए वैद्य या डाक्टर की सहायता चाहती है, तो ऐसे समय चिकित्सक का अपनी फीस के लिए आग्रह करना, और फीस न मिलने के कारण उस बच्चे के इलाज की ओर ओर ध्यान न देना निर्दयता है। चिकित्सक का कर्तव्य है कि अनाथ या गरीब बच्चे को अपना बच्चा समझे, उसके इलाज के लिए फीस की माँग न करे। यही नहीं, यदि सम्भव हो तो वह उसके लिए औषधि भी बिना मूल्य दे।

चिकित्सकों के स्वार्थ से समाज की दुर्दशा—मनुष्य के शरीर में बीमारियाँ अनेक प्रकार की होती हैं; कोई वैद्य या डाक्टर यह दावा नहीं कर सकता कि उसे सभी बीमारियों की दवाइयाँ मालूम हैं। आजकल बहुत से चिकित्सक ऐसे होते हैं, कि वे किसी भी बीमारी के बारे में अपनी अनभिज्ञता जाहिर नहीं करना चाहते। यदि उनके पास कोई ऐसा रोगी पहुँचता है, जिसका इलाज करने के वे योग्य नहीं होते तो भी वे उसे कुछ-न-कुछ दवाई दे देना अपना कर्तव्य समझते हैं। उन्हें यह डर रहता है कि यदि हम एक रोगी को बिना दवाई दिए लौटा

देते हैं तो फिर दूसरे मरीज हमारे पास न आवेंगे, और हमारा रोजगार मारा जायगा। निदान, उन्हें मुख्य चिन्ता इस बात की होती है कि किसी प्रकार हमारा रोजगार चलता रहे, फिर चाहे हमारे व्यवहार से किसी को लाभ की जगह हानि ही क्यों न हो। चिकित्सकों पर लोगों के प्राणों की रक्षा की जिम्मेवरी है; जब वे इस प्रकार स्वार्थी हो जायँ तो समाज की दुर्दशा का क्या कहना!

फीस लेने के अनुचित आधार—वर्तमान दशा में बहुत से चिकित्सक कितने लोभी हैं, इसका पता इस बात से लगता है कि अब फीस लेने के कैसे-कैसे रास्ते निकाल लिए गए हैं। आजकल बहुधा सरकारी या सार्वजनिक संस्थाओं में काम करनेवालों को बीमार पड़ने पर छुट्टी उसी दशा में मिलती है, जब वे किसी प्रामाणिक वैद्य या डाक्टर का सर्टिफिकेट पेश कर सकें। हमारे वैद्यों या डाक्टरों में ऐसे कितने हैं, जो एक रोगी को रोगी बताने—एक साधारण सच्ची बात कहने—के लिए फीस न लें। यह फीस की परिपाटी इतनी बढ़ गई है कि अनेक बार किसी कर्मचारी को जब किसी आवश्यक कार्य के लिए छुट्टी लेने की जरूरत होती है तो वह फीस देकर 'प्रामाणिक बीमार' बनने की बात सोचता है। वैद्य या डाक्टर जब रोगी को रोगी कहने की फीस लेते हैं तो तन्दुरुस्त आदमी को रोगी करार देने की फीस क्यों न लें। हमारे चिकित्सकों से चाहे सची बात कहलाओ चाहे झूठी, उन्हें अपनी फीस से मतलब है।

फीस के लिए बहुत से चिकित्सक तो अपनी मनुष्यता अर्थात् दया, सहानुभूति आदि को भी छोड़ने में संकोच नहीं करते। समय-समय पर ऐसे उदाहरण मिलते रहते हैं कि डाक्टर किसी रोगी को देखने उसके घर जाता है, और उसके वहाँ पहुँचने से पहले ही रोगी के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, या वह ऐसी दशा में होता है कि उसे दवाई नहीं दी जा सकती, तो भी डाक्टर अपने आपको फीस लेने का अधिकारी

समझते हैं। क्यों न हो; डाक्टर साहब तो घर आने की फीस लेते हैं, और जब वे रोगी के घर आने का काम कर चुके तो उनकी फीस पक्की हो गई; चाहे उससे रोगी का कुछ भला हो या न हो!

अपनी जान जोखम में डालकर भी लोकसेवा करने की ज़रूरत—अपने व्यवसाय में सिद्धान्त और आदर्श का विचार करनेवाले चिकित्सक को फीस का यह अनुचित लोभ छोड़ना होगा। यही नहीं, उसे तो अपनी जान जोखम में डालकर भी अपना महान कर्तव्य पूरा करना चाहिए। कल्पना करो कि बस्ती में कोई उड़नी बीमारी, संक्रामक रोग या महामारी आदि प्रकोप हो जाता है, हर रोज बहुत सी मौतें होती हैं, और नित्य नए आदमी बीमार पड़ते हैं। क्या चिकित्सक अपने इन भाइयों को इस दशा में छोड़कर वहाँ से चला जाय? यही समय तो उसकी परीक्षा का है। अपनी जान किसे प्यारी नहीं होती! लेकिन चिकित्सक को इस समय यह दिखा देना है कि वह अपनी जान से भी ज्यादा अपने कर्तव्य को प्यार करता है। अगर किसी जहाज के डूबने का प्रसंग आए तो कप्तान का कर्तव्य होता है कि पहले दूसरे सब यात्रियों को बचाने का प्रयत्न करे, और अपनी रक्षा की बात अन्त में सोचे। इसी तरह बीमारी के क्षेत्र में चिकित्सक का कर्तव्य है कि पहले दूसरे आदमियों की जान बचाने की फिक्र करे; जिन्हें औषधि या सलाह-मशविरे की ज़रूरत हो, उनके लिए उसकी व्यवस्था करे। सब के बाद चिकित्सक अपनी फिक्र करे। सम्भव है, ऐसा करने में उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ें, पर व्यवसाय में आदर्श निभाने के लिए यह कीमत तो प्रायः देनी पड़ती है। हमें याद रखना है कि 'जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना नहीं आया'। हम शानदार जिन्दगी चाहते हैं, तो उसका उपाय यही है कि हम प्राणों का मोह छोड़ दें; और बेधड़क, अपनी जान हथेली पर लिए अपना कर्तव्य पालन करते रहें।

ग्यारहवाँ अध्याय

लेखक का आदर्श

'जनता के अभ्युदय में, सुधार-युग के आह्वान में, नई सृष्टि की रचना में तुम्हारा यथेष्ट भाग होना चाहिए। तुम्हारी लेखनी पाठकों के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक हो। तुम युग-निर्माता हो, अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखो।'

—लेखक

मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा—पिछले पाँच अध्यायों में कारीगर, कल कारखानेवाले, व्यापारी, दुकानदार और चिकित्सक के आदर्श पर विचार किया गया है। इनमें से पहले चार प्रकार के व्यवसायी खासकर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं; और चिकित्सक रोगों का इलाज करके शरीर की रक्षा किया करते हैं। पर मनुष्य केवल शरीर वाला ही नहीं है, सिर्फ रोटी कपड़े से उसका काम नहीं चल सकता। उसे दूसरी भूख भी रहती है, वह है उसके मन की भूख। वह ज्ञान चाहता है। उसकी इच्छा यह जानने की होती है कि भूतकाल में यह सृष्टि कैसी थी, आदमी पहले किस तरह निर्वाह करता था, उसमें क्या-क्या परिवर्तन होकर वर्तमान स्थिति आई है, इस समय दूसरे गाँवों या नगरों में मनुष्य-जीवन किस तरह का है। आदमी दूसरे देशों की कथा-कहानियाँ सुनने को उत्सुक रहता है। वह अपना विचार-क्षेत्र अपने आसपास वालों तक ही रखने से संतुष्ट नहीं होता। वह अपनी दुनिया को अधिकाधिक बढ़ाना चाहता है। जहाँ तक सम्भव हो, वह भविष्य का भी आभास लेना चाहता है। आदमी की शारीरिक भूख की तो एक सीमा है; कोई आदमी पाव भर भोजन से तृप्त हो जाता है, कोई डेढ़ पाव या आधा सेर से। कुछ

आदमियों की खुराक और अधिक या असाधारण होती है, पर उसकी भी सीमा है। लेकिन ज्ञान की भूख ऐसी है, जिसका कहीं अन्त नहीं। जितना अधिक किसी को ज्ञान हो जाता है, उतना ही अधिक उसकी ज्ञान पाने की लालसा बढ़ जाती है। कवि ने ठीक कहा है—

हम जानते थे, इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी॥

असल में कम जाननेवाले और अधिक जाननेवाले में एक खास अन्तर यही है कि कम जाननेवाला समझता है कि मैंने बहुत सी बातें जानली हैं; अब थोड़ी सी ही कसर है, फिर मैं पूर्ण ज्ञानवान बन जाऊँगा। इसके विपरीत, विद्वान यह समझता है कि मैं ने ज्ञान प्राप्त करना आरम्भ ही किया है, मेरे सामने ज्ञान का अथाह समुद्र है, मैं तो अभी इसके किनारे पर ही हूँ, इस विशाल समुद्र को पार करना तो असम्भव ही है। अस्तु, मनुष्य में ज्ञान-प्राप्ति की बेहद इच्छा है, वह पृथ्वी जल आकाश का, और भूत वर्तमान और भविष्य का, तथा न-जाने किस-किस का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह अधिकाधिक मनुष्य-समाज से ही नहीं, उसका वश चले तो विश्व भर से, और इससे भी अधिक से सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।

लेखक जनता की मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करे— मनुष्य की इस मानसिक तथा आत्मिक आवश्यकता को पूरी करने का काम लेखक करता है। लेखक का काम है कि जनता को विविध विषयों का ज्ञान कराए; उसको रास्ता बताए, उसकी समस्याओं को हल करे। हर एक बात में उसे यह ध्यान रखना है कि उसका काम लोक-सेवा है। वह सत्य का प्रचारक हो, अपनी बात को सुन्दर ढंग से कहने-वाला हो, अर्थात् वह सौंदर्य-प्रेमी भी हो; परन्तु यही काफी नहीं है, सत्य और सौंदर्य के साथ उसे शिव अर्थात लोक-कल्याण का भी उपासक होना है।

खेद है कि हमारे कितने ही लेखक इस आदर्श का ध्यान नहीं रखते। सत्य के नाम पर बहुत सी वीभत्स, रोमाञ्चकारी और अश्लील बातों का वर्णन किया जाता है। साधारण पाठक उस ओर आकर्षित हो जाते हैं—उसे पढ़कर अपने मन की शान्ति खो बैठते हैं, और बुरे संस्कारों या विचारों के शिकार हो जाते हैं। लेखक को याद रखना चाहिए कि संसार के हरेक सत्य का वर्णन करना आवश्यक नहीं है। हम जानते हैं कि हरेक नगर में बहुत सी गन्दी नालियाँ और पाखाने आदि होते हैं, परन्तु किसी नगर के वर्णन में इन्हें परिमित स्थान ही मिल सकता है। पर कुछ लेखक लोगों की कुरुचि का लाभ उठाकर सामाजिक गन्दगी का विशेष चित्रण किया करते हैं, और इसमें उनका उद्देश्य समाज-सुधार न होकर अपना स्वार्थ-साधन करना होता है। यह सर्वथा अनुचित है।

संयम की आवश्यकता—यदि कोई आदमी किसी अच्छे उपयोगी, शिक्षाप्रद विषय पर नहीं लिख सकता, यदि वह जनता को जागृति और उत्थान का संदेश नहीं दे सकता, उसमें सामाजिक या राजनीतिक बुराइयों के प्रति विद्रोह की भावना नहीं पैदा कर सकता, या दैवी संकटों को शान्ति और धैर्य से सहन करने की प्रेरणा नहीं कर सकता, वरन् इसके विपरीत उसकी दृष्टि लोगों में गन्दी भावनाएँ फैलाने, आपसी ईर्ष्या-द्वेष बढ़ाने और ओछी मनोवृत्तियों को प्रोत्साहन देने की ओर रहती है तो बेहतर है कि वह कुछ न लिखे; वह लिखने का धंधा न करे।

असल में लिखने का काम करना उसी को शोभा देता है, जिसे अपने विषय का अच्छा ज्ञान और अनुभव हो, और जिसके मन में उस विषय पर लिखने की प्रबल प्रेरणा हो। लिखना आरम्भ करने से पहले लेखक को यह खूब अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए कि क्या मेरे पास पाठकों को देने के वास्ते कुछ खास चीज है, जिसको कोई

दूसरा व्यक्ति नहीं दे रहा है। यदि लेखक इस तरह का विचार कर लिया करें तो उनकी बहुत सी प्रतिद्वन्दिता हट जाय और जनता बहुत से अनावश्यक साहित्य के भार से बची रह सके। परन्तु होता क्या है? एक लेखक की किसी रचना का जनता में स्वागत होते देख कर कितने ही दूसरे आदमी उसी तरह की चीज बाजार में रखने लगते हैं। इनमें उस विषय पर लिखने की कोई खास योग्यता आदि नहीं होती, ये कुछ बातें एक पुस्तक से, और कुछ बातें दूसरी पुस्तकों से ले कर उन्हें थोड़ा-बहुत बदल कर और कहीं-कहीं कुछ वाक्य अपने जोड़ कर एक 'नई पुस्तक' तैयार कर देते हैं, जिससे अनेक पाठकों को सहज ही धोखा हो सकता है। जो लेखक इस तरह का काम करते हैं, वे अपने को बहुत सफल मान लेते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है। ऐसे लेखक, प्रकाशक द्वारा माँग होने पर, चाहे जिस विषय की पुस्तक लिखने को तैयार रहते हैं। बात यह है कि इनका अपना कोई खास विषय नहीं होता, ये तो दूसरों की रचनाओं तथा अपनी कैंची और गोंद के बल पर चाहे जिस विषय की पुस्तक लिखने का दम भर सकते हैं। और, कुछ लोग तो शिक्षा सम्बन्धी ऊची उपाधियाँ प्राप्त कर लेने पर, अथवा शिक्षाधिकारियों से मेलजोल बढ़ा लेने पर कुछ भी मेहनत किये बिना, लेखक की जगह अपना नाम देकर उसकी 'फीस' प्राप्त करने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसी बातों से प्रत्येक लेखक को घृणा होनी चाहिए।

लेखक अपना कार्यक्षेत्र निश्चित करे—लेखक को अपनी लेखनी ऐसे विषय पर ही उठानी चाहिए, जिस पर उसे अपने ज्ञान या अनुभव के कारण, लिखने की योग्यता और अधिकार हो; यों जिन विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने की आवश्यकता होती है, वे अनन्त हैं, और सभी विषय अपनी-अपनी जगह उपयोगी होते हैं। मिसाल के तौर पर भारत एक गरीब देश है, साधारण समय में भी यहाँ कई करोड़ आदमियों

को दो वक्त भरपेट भोजन और सर्दी गर्मी से बचने के लिए काफी कपड़ा नहीं मिल पाता। साम्प्रदायिक भेद भाव से इस की शक्ति बिखरी हुई है। करोड़ों आदमियों को यहाँ अछूत समझा जाकर, उनका और मानवता का अपमान किया जाता है। लोगों के, खासकर स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य की अलग ही समस्या मौजूद है। इन सब समस्याओं का हल करने वाले साहित्य की आवश्यकता स्पष्ट है। लेखक को यह निश्चय करना चाहिए कि वह इनमें से किस विषय पर, दूसरे विषयों की अपेक्षा अच्छा लिख सकता है। साथ ही उसे यह भी विचार करना चाहिए कि मैं अपने विषय को कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध आदि में से किस रूप में अच्छी तरह उपस्थित कर सकता हूं। इसके बाद ही उसे अपना कार्यक्षेत्र निश्चित करना उचित है।

लेखक के मार्ग की बाधाएँ—लेखक को पथ-भ्रष्ट करने में बहुधा समाज और राज्य का काफी भाग रहता है। समाज के बड़े बूढ़े, या पंच आदि प्रायः यह चाहते हैं कि जो रूढ़ियाँ या अंध-विश्वास लोगों में प्रचलित हैं, वे बने रहें, उनका विरोध न किया जाय। धर्माधिकारी चाहते हैं कि लोगों की हमारे प्रति जो श्रद्धा भक्ति है, उसे आँच न आने पाए; और जिस दान-धर्म आदि की आमदनी से हम गुलछर्रे उड़ाते हैं, उसमें किसी तरह की कमी न हो। इसी तरह खासकर पराधीन देशों या स्वेच्छाचारी शासन वाले राज्यों में शासक इस फिक्र में रहते हैं, कि लोगों में जागृति या सुधार की लहर न फैले, उनमें अपने अधिकार प्राप्त करने की उमंग न पैदा हो, और वे हमेशा आज्ञाकारी सेवक बने रहें। निदान, समाज के बड़े-बूढ़े, धर्म के ठेकेदार और राज्याधिकारी सब अपने-अपने मतलब के लिए लेखक की सहायता पाने को उत्सुक रहते हैं। वे लेखक को खरीदने के लिए बहुधा मुँह-माँगे दाम देने को तैयार रहते हैं, और अगर लेखक आर्थिक प्रलोभनों में नहीं फँसता तो वे अपने दमनकारी अस्त्रों का

उपयोग करने में संकोच नहीं करते। समाज और धर्म के ठेकेदार उसे वहिष्कार या नर्क का भय दिखाते हैं, और राज्य उस पर जुर्माने, जेल और नजरबन्दी आदि का आतंक जमाता है।

अपने आदर्श का ध्यान रखने वाले स्वाभिमानी लेखक का कर्तव्य है कि वह किसी भी प्रलोभन में न फँसे, और साथ ही समाज और राज्य की नाराजी सहने तथा उनके द्वारा मिलनेवाले हर प्रकार के दंड को सहन करने के लिए तैयार रहे। ऐसा करने पर ही वह अपने महान उत्तरदायित्व को निभा सकता है, वह समाज और राज्य को साफ और खरी बातें कह सकता है, और उनकी उन्नति में यथेष्ट भाग ले सकता है।

लेखक को ऊँची भावना रखने की आवश्यकता—अच्छा लेखक होने के लिए आदमी को पहले अपना जीवन अच्छा बनाना होगा। उसके मन में सेवा और त्याग की भावना हो, वह जनता से प्रेम करनेवाला हो। उसका हृदय उदार हो। तभी उसकी लेखनी में ऐसा बल होगा कि वह पाठकों को प्रेम, सेवा और परोपकार का संदेश दे सके और उन्हें रोजमर्रा की विविध समस्याओं का हल करने की शक्ति प्रदान कर सके। निस्संदेह हरेक विचारशील सज्जन का कर्तव्य है कि वह अपने आदर्श का ध्यान रखने वाले लेखकों को समुचित सहायता करे, और यथा-संभव उन्हें अपनी जीवन-निर्वाह की चिन्ता करने का अवसर न आने दे। परन्तु लेखक को चाहिए कि वह ऐसी सुविधाओं की प्रतीक्षा में न रह कर अपना कार्य करता रहे; भले ही उसे तरह-तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़े। अपने आदर्श की रक्षा करने में कठिनाइयों का साहसपूर्वक सामना करते रहना ही तो वास्तव में जीवन है।

———

बारहवाँ अध्याय

अध्यापक का आदर्श

आदर्श शिक्षक धर्म, देश, समाज तथा विश्व का कल्याणकारी देवदूत है। वह जीवन की ग्रन्थियाँ खोलता हैं। वह संसार के मानव समाज को, अपने आदर्श शिष्यों द्वारा दुख से छुड़ाकर सुख की प्राप्ति कराता है। —शारदाप्रसाद वर्मा

अध्यापक के कार्य का महत्व—समाज में अध्यापक के कार्य का कितना महत्व है, यह हमें अच्छी तरह तभी मालूम हो सकता है, जब हम एक शिक्षित और अशिक्षित आदमी के अन्तर पर विचार करें। यों तो जिसे हम अशिक्षित कहते हैं, वह भी बहुत सी बातों की शिक्षा अपने माता पिता या रिश्तेदारों और पड़ोसियों द्वारा पाए हुए होता है; तो भी उसका वैसा या उतना विकास नहीं होता, जैसा या जितना एक अध्यापक की सहायता से हो सकता है।

आम तौर से अध्यापकों का, खासकर प्राइमरी या प्रारम्भिक कक्षाओं के अध्यापकों का, काम सिर्फ यह समझा जाता है कि बालकों को लिखना-पढ़ना, किताबें बाँचना और उनका अर्थ ग्रहण करना सिखादें। असल में यह तो उनके महान कार्य का एक अंग मात्र है, यह शिक्षा का गौण भाग है। शिक्षा का आशय है मनुष्य का विकास उसकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक सभी शक्तियों या गुणों की वृद्धि, तथा उसे संसार में जीवन-यात्रा करने के लिए अधिक-से-अधिक तैयार करना और समाज के लिए यथेष्ट उपयोगी बनाना। इससे स्पष्ट है कि अध्यापक के जिम्मे कितना महत्वपूर्ण कार्य है। भाषा-ज्ञान इसमें सहायक अवश्य है, पर उसी से शिक्षा-कार्य पूरा नहीं होता। सम्भव है कि कोई आदमी लिखना-पढ़ना सीख कर अपने इस ज्ञान का दुरुपयोग

करे; वह अपने स्वास्थ्य की अवहेलना करे; अश्लील, गन्दी, उत्तेजक किताबें पढ़े और समाज में छल-कपट, बेईमानी और बदचलनी का व्यवहार करे। अध्यापक का कर्तव्य है कि बालकों में ऐसी भावनाएँ पैदा करे तथा बढ़ावे कि उनमें उपरोक्त दुर्गुण न आवें तथा वे सन्मार्ग पर बढ़ते रहें।

अध्यापक का बच्चों पर प्रभाव—अध्यापक की बोलचाल, स्वभाव और व्यवहार का बच्चों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। छोटी उम्र में बालकों में अपने स्वतंत्र विचार या तर्क-शक्ति नहीं होती, वे दूसरों की नकल करनेवाले होते हैं। जो व्यवहार वे अध्यापक आदि को करते देखते हैं, उसकी गहरी छाप उनके मन पर पड़ती रहती है, कुछ बातों का तो वे उन्हीं दिनों में अनुकरण करने लगते हैं, और दूसरी बातें पीछे जाकर अपना प्रभाव दिखाती हैं। इसलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि अध्यापक का व्यवहार और चरित्र बहुत उच्च कोटि का हो। अध्यापक अपने विविध कार्यों से मानो तरह-तरह के बीज बोता रहता है, और बहुधा उसे खुद भी पता नहीं होता कि उसके द्वारा यह कार्य हो रहा है। सम्भव है उसकी जरा सी उपेक्षा या असावधानी से पीछे ऐसा बड़ा विष-वृक्ष उग आवे, जिसकी उसे कभी कल्पना या इच्छा नहीं थी।

अध्यापक का शील स्वभाव अच्छा होने की आवश्यकता—इस विचार से, अध्यापक को अपनी हरेक बात-व्यवहार के प्रति बहुत सतर्क या सावधान रहना चाहिए। परन्तु यही काफी नहीं है। अगर हमारा स्वभाव अच्छा नहीं है, हममें क्रोध बहुत है, हमें अपशब्द कहने की आदत है, और हम बात-बात में दूसरों से झगड़ा किया करते हैं और छल-कपट आदि से परहेज नहीं करते तो जो बालक हर रोज कई-कई घंटे हमारे पास रहते हैं, उनसे हमारा स्वभाव कैसे और कब तक छिपा रह सकता है। बहुत से आदमी यह समझते हैं कि हमें अपने

दुर्गुण दूसरे लोगों से तो छिपाने की जरूरत है, पर बालकों से छिपाने की कोई जरूरत नहीं; बालक हमारी निन्दा करने नहीं बैठेंगे, और अगर वे निन्दा भी करेंगे तो उससे हमारी कुछ हानि नहीं होगी। यह विचार-धारा गलत है। हम ऊपर कह चुके हैं कि बालकों पर अध्यापक के दोषों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है, और यदि उसका स्वभाव या चरित्र ही खराब है तो वह उनसे छिपा भी नहीं सकता। इसलिए जरूरत इस बात की है कि अध्यापक का स्वभाव, व्यवहार, विचार और चरित्र बहुत अच्छे हों। उसका जीवन आदर्शमय हो।

अध्यापक की योग्यता का प्रश्न—अध्यापक का कार्य कितने महत्व का है, यह पहले बताया जा चुका है। खेद है कि बहुत से आदमी अध्यापक का कार्य आरम्भ करने से पहले इसके लिए विशेष तैयारी नहीं करते। कुछ थोड़ी सी साहित्यिक परीक्षाएँ पास कर लेने से आदमी अपने आपको यह कार्य करने के योग्य मान लेते हैं। भारतवर्ष में समाज और राज्य भी इस ओर काफी ध्यान नहीं देते। हमारे यहाँ ऊँची कक्षाओं को पढ़ाने के वास्ते तो योग्य और विद्वान आदमी रखे जाते हैं, और उन्हें वेतन भी अपेक्षाकृत अच्छा दिया जाता है, पर छोटे बालकों के लिए तो मामूली योग्यता के आदमी रख लिए जाते हैं, और उन्हें वेतन भी बहुत कम दिया जाता है। अध्यापक भी जैसे-तैसे निर्धारित पाठ्य क्रम के अनुसार पढ़ाई करा देने और अधिक-से-अधिक विद्यार्थियों को पास करा देने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इन बालकों को पीछे जीवन की बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ देनी होंगी, और उन परीक्षाओं के लिए तैयार करना, उत्तम नागरिक बना देना हमारा कर्तव्य है।

यदि अध्यापक अपने उत्तरदायित्व का अच्छी तरह विचार कर लें तो वे भाषा, गणित या भूगोल आदि के विद्वान होने से संतोष न करें; वे मनोविज्ञान की शिक्षा और अनुभव प्राप्त करने का भी काफी

प्रयत्न करें। अध्यापक में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह बालकों की रुचि और स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन करके उनसे उनकी जुदा-जुदा प्रकृति के अनुसार व्यवहार कर सके। बालकों को शिक्षा देने का काम बहुत नाजुक है, उसे बहुत सावधानी से करना चाहिए; डाटडपट कर, मारपीट कर, उन पर धौंस जमाकर काम निकालने की नीति अनुचित और बेकार है। बालक अपने आस-पास की विविध वस्तुओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न करके अपनी अनन्त जिज्ञासा पूरी करना चाहता है। यदि अध्यापक उसकी बातों का जवाब शान्ति से नहीं देता और उसके प्रश्नों से अधीर हो जाता है तो यह आशंका है कि कहीं बालक निराश न हो जाय, और उसका ज्ञान बढ़ने का मार्ग रुक न जाय। बालक में चंचलता, क्रियाशीलता होती है, वह हर एक चीज को छू कर, उठा कर, उलटपुलट कर तरह-तरह के अनुभव प्राप्त करना चाहता है। विशेष दशाओं में जब इससे कोई खास हानि की सम्भावना हो तब तो बालक पर नियन्त्रण करना ठीक है, अन्यथा यदि बात-बात में उसे टोका जायगा तो बालक के विकास में भारी बाधा उपस्थित होगी। इस प्रकार अध्यापक का कार्य है कि वह बालक का मित्र और सहायक रहे, वह हर दम अपनी कठोर साधना द्वारा बालकों की उन्नति करने का अभिलाषी हो। देश और समाज को किस तरह के आदमी चाहिएँ —इसका ध्यान रखता हुआ वह बालकों के चरित्र का उचित निर्माण करनेवाला हो।

अध्यापक भावी समाज का निर्माता है—कुम्हार अपने मन में भली भांति सोच लेता है कि उसे गीली मिट्टी से राम और लक्ष्मण बनाने हैं, या गणेश और लक्ष्मी, अथवा सीता या हनुमान आदि। अध्यापक को भी समाज की आवश्यकता का विचार करके यह निश्चय करना चाहिए कि वह अपने पास के सुकुमार बालकों को क्या बनाना चाहता है। इस समय अगर देश में सच्चे परिश्रमी कारीगर, स्वार्थत्यागी

ईमानदार व्यापारी, स्वतन्त्रता-प्रेमी योद्धा, लोकसेवी कार्यकर्ता कम हैं तो इसका दायित्व बहुत-कुछ पिछली पीढ़ी के शिक्षकों पर है। अस्तु, अगली पीढ़ी में इस तरह की कमी न हो, इसके लिए अध्यापक वर्ग को जुट जाना चाहिए। देश के भावी कर्णधार उन बालक बालिकाओं में से ही होंगे जो आज दिन अध्यापकों के सामने बैठे हुए प्रारम्भिक शिक्षा पा रहे हैं। भारतवर्ष को कई गाँधी, नेहरू, सुभास, राजेन्द्र और और आजाद आदि की ज़रूरत है, और उन्हें गढ़ने का काम माताओं और पिताओं के अतिरिक्त अध्यापकों पर है।

संसार-हित के लिए अध्यापक अपने आदर्श का ध्यान रखें—एक भारतवर्ष के ही हित का प्रश्न नहीं है। संसार आज ईर्ष्या-द्वेष की लपटों में कष्ट पा रहा है। अच्छे उन्नतिशील, धनी और औद्योगिक राष्ट्र भी बड़ी अशान्ति का अनुभव कर रहे हैं, किसी को अपनी सुरक्षा का भरोसा नहीं है; हर जगह नागरिक इस चिन्ता में है कि न-मालूम कब संसार के किसी हिस्से में कोई ज्वालामुखी फूट पड़े और उसकी विस्फोटक लीला से दूर-दूर तक की जनता भस्म नहीं तो झुलस अवश्य जाय। स्वार्थ ने सबको अंधा कर रखा है, हरेक दूसरे का शोषण करने पर तुला है, और इससे अन्त में स्वयं उसका भी अहित हो रहा है। ऐसी चिन्तनीय परिस्थिति में विश्व को शान्ति के दूतों की, नव-निर्माण करने वालों की, कितनी आवश्यकता है! इस आवश्यकता की पूर्ति वही अध्यापक कर सकेंगे, जो अपने आदर्श का ध्यान रखकर काम करेंगे—और वह आदर्श है भावी नागरिकों का अधिक-से-अधिक विकास करना, और इसके लिए स्वयं अपने चरित्र और व्यवहार आदि को अच्छे-से-अच्छा बनाने का प्रयत्न करते रहना।



तेरहवाँ अध्याय

अन्य व्यवसाय करनेवालों का आदर्श

[किसान, मज़दूर, घरू नौकर, सार्वजनिक कर्मचारी, वकील, प्रकाशक, धर्मोपदेशक, वैज्ञानिक और अविष्कारक, कवि और चित्रकार आदि का आदर्श]

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ।

पिछले सात अध्यायों में हमने एक-एक व्यवसाय करनेवालों के आदर्श का जुदा-जुदा विचार किया है। पर समाज में इतने प्रकार के व्यवसायों का चलन है कि सब का अलग-अलग ब्योरेवार विचार एक पुस्तक में होना सम्भव नहीं। हम यहाँ अन्य व्यवसायों में से कुछ खास-खास के सम्बन्ध में संक्षेप में लिखते हैं। नागरिकों को खास तौर से इस बात की ओर ध्यान देना है कि वे चाहे जो काम करें उसे सच्चाई और ईमानदारी से मन लगाकर, उत्तम रीति से, और सेवा-भाव से करें, किसी भी दशा में व्यवसाय का उद्देश्य अपना स्वार्थ-साधन करना, न होना चाहिए।

किसानों का आदर्श—मिसाल के तौर पर किसानों का आदर्श यह होना चाहिए कि ऐसी चीज़ों की खेती को प्रधानता दें जो आदमियों के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है; उसके बाद वे उन चीजों को उत्पन्न करें, जो निपुणतादायक या आराम देने वाली हो। ऐसा न होना चाहिए कि वे सर्वसाधारण की इन आवश्यकताओं की उपेक्षा करके ऐसी चीज़ें पैदा करने लग जायँ, जिनकी कुछ थोड़े से धनी, व्यसनी या शौकीन लोगों को ज़रूरत होती है। कल्पना करो, एक किसान अपनी जमीन में अन्न कपास और तमाखू तीन चीजों की खेती कर सकता है तो उसे विचार करना चाहिए कि यहाँ वालों को अधिक

आवश्यकता किस चीज़ की है; उसे उसी चीज की खेती करनी चाहिए, चाहे उसे ऐसा करने से आर्थिक लाभ बहुत कम ही क्यों न हो। किसान जनता का अन्नदाता है, उसका कर्तव्य लोगों को प्राण धारण करने में सहायता देना है; अपने निजी लाभ के लिए उसे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। इसके साथ उसे इस बात की ओर तो ध्यान देते ही रहना चाहिए कि उन्नत देशों में खेती के कौन-कौन से नए तरीके काम में लाए जा रहे हैं, और उनका वह कहाँ तक उपयोग कर सकता है। निदान, उसका आदर्श यह होना चाहिए कि खेती को अधिक-से-अधिक उन्नत ढंग से करे, और उसके द्वारा जनता का ज्यादा-से-ज्यादा हित करे।

मजदूरों का आदर्श--आजकल बहुत सा सामान कल-कारखानों में बनाया जाता है, और मज़दूरों को अपने श्रम या मेहनत का पारिश्रमिक लेते हुए उनमें काम करना होता है। कल-कारखानेवालों के आदर्श के बारे में विस्तार-पूर्वक विचार पहले किया जा चुका है। यदि वे अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करें तो मजदूरों के बहुत से कष्ट दूर हो जायँ, और उनका कल-कारखानेवालों से संघर्ष न रहे। यह निश्चित है कि जल्दी ही इस दिशा में आवश्यक सुधार होकर रहेगा; समाजवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव इसकी स्पष्ट सूचना है। अस्तु, जब कि मजदूरों को अधीनता में ही कार्य करना पड़े तो उन्हें 'मालिकों' की ओर से होनेवाला कोई ऐसा व्यवहार सहन न करना चाहिए, जिससे उनके आत्म-सम्मान को धक्का लगे या उनके दूसरे नागरिक कर्तव्यों में बाधा पहुँचे। हाँ, उन्हें अपना काम यथा-शक्ति मेहनत और ईमानदारी से करना चाहिए। चाहे कोई उनके काम को देखने वाला हो, या न हो, उन्हें अपनी इच्छा से काम अच्छी तरह करना चाहिए।

घरू नौकरों का आदर्श—आजकल आर्थिक विषमता बहुत होने से अधिकांश देशों में कुछ आदमी ऐसे होते हैं जो अपने घर में

एक-एक या कई-कई नौकर रख सकते हैं, और बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जिनसे अपनी आजीविका के लिए नौकरी को छोड़ कर कोई दूसरा काम करते नहीं बनता। इन्हें बहुधा नौकरी की तलाश के लिए बहुत भटकना पड़ता है, और जब कहीं नौकरी मिल जाती है तो यह खटका लगा रहता है कि कहीं मालिक किसी बात से नाराज न हो जाय, और वह हमारी नौकरी न छुड़ा दे। इस लिए ये लोग प्रायः बहुत सँभलकर होशियारी और मेहनत से काम करते हैं, और ईमानदारी से भी। ये नौकर कुछ अंश तक इन गुणों का उपयोग सिर्फ मजबूरी से न करके स्वेच्छा से करते हैं। आवश्यकता है कि वे मजबूरी या लाचारी का बिलकुल विचार न कर अपनी इच्छा या स्वभाव से ही सच्चे, मेहनती और ईमानदार हों। वे मालिक के काम को अपना काम समझें, उसके बच्चों को अपनी सन्तान की तरह प्यार करें, और उसके घर के सामान को बहुत सावधानी से रखें; मालिक को किसी प्रकार का नुकसान न होने दें। वे अपना काम सिर्फ मालिक को दिखाने के लिए न कर स्वयं अपने मन से करें, और मालिक के कहने की आवश्यकता न रखें। अवश्य ही मालिक का भी कर्तव्य है कि नौकर के सुख-दुख का विचार रखे, वह उसे 'नौकर' न मान कर उससे अपने घर के आदमी की तरह व्यवहार करे; और हमेशा उसकी उन्नति का प्रयत्न करता रहे। इस विषय की कुछ विचारणीय सामग्री 'कल-कारखाने वालों का आदर्श' अध्याय में दी जा चुकी है।

सार्वजनिक कर्मचारियों का आदर्श—हर देश में बहुत से आदमी सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में काम करनेवाले होते हैं। बहुधा इनके व्यवहार से ही जनता इन संस्थाओं के बारे में अपनी राय बनाती है। और, इसमें सन्देह भी नहीं कि यदि कर्मचारी अच्छे हों तो संस्था की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है, और वह बहुत अधिक सेवा कर सकती है। परन्तु कर्मचारी यह भूल जाते हैं कि उनका

काम जनता की सेवा करना है। वे सिर्फ़ ज़ाप्ते का काम करते हैं; जिसे करना उनके लिए ज़रूरी है, और जिसे न करने से उनके काम की त्रुटि मानी जाती है। उनका ध्यान खासकर इस ओर रहता है कि नौकरी बनी रहे और उनकी तरक्की होती रहे। उनकी तमाम कार्यपद्धति इसी विचार को लिए हुए होती है। इस लिए उन्हें जनता की सहायता करने के जो अनेक अवसर आए-दिन मिलते हैं, उनका वे ठीक उपयोग नहीं करते। इसका नतीजा यह होता है कि वे अपना जीवन जितना उपयोगी बना सकते हैं, नहीं बनाते। इस ओर उनका ध्यान ही बहुत कम जाता है। वे प्रायः जड़ यन्त्र की तरह नपा-तुला काम करते हैं; यही नहीं, वे जनता से बात भी नपे-तुले शब्दों में करते हैं; कोई आदमी उसका ठीक अर्थ समझ सके या न समझ सके, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती। यह बात जहाँ जनता की दृष्टि से हानिकर है, स्वयं कर्मचारियों के लिए भी अच्छी नहीं, उनके काम के घंटों का जीवन नीरस रहता है, इससे एक बड़ी सीमा तक उनका विकास रुका रहता है।

सरकारी कर्मचारियों में तो खासकर हकूमत की भावना बढ़ जाती है। वे जनता पर धौंस जमाते रहते हैं। वे समझते हैं कि हम तो सरकार के अंग हैं, और इस लिए जनता पर रौब गांठना, उनसे तरह-तरह का काम निकालना, अपना मतलब सिद्ध करना, मौका मिलने पर उनसे भेंट या रिश्वत आदि लेना हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। वे यह नहीं सोचते कि हमें जो वेतन मिलता है, वह सार्वजनिक करों से होनेवाली आय में से दिया जाता है, हम जनता के सेवक हैं, और हमें जनता को सुविधा पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। वे तो अपने आपको अपने अफसरों के नौकर समझ कर, उन्हें खुश करने की फिक्र में रहा करते हैं। कुछ कर्मचारी अपने अफसरों की हाँ-हजूरी और खुशामद करते हैं, कुछ उनके निजी कामों में मदद करते हैं,

और कुछ उन्हें समय-समय पर डाली, भेंट आदि से खुश करते हैं। ये लोग जनता के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने में उदासीन रहते हुए भी अपने पद, वेतनवृद्धि आदि को सुरक्षित समझते हैं; और, अकसर होता भी यह है कि अगर इनके विरुद्ध जनता की किसी प्रकार की शिकायत होती है, तो इनके अफसर उस पर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। कर्मचारी और अफसरों की जहाँ ऐसी 'मिलीभगत' होती है वहाँ जनता के हित की अवहेलना होना स्वाभाविक ही है। जरूरत है कि ये लोग इन दोषों को दूर करें, और लोक-सेवा को अपना आदर्श मानें।

वकील का आदर्श—वकील का काम यह है कि न्याय कराए, अन्याय न होने दे। प्रायः निर्बल या निर्धन के साथ अन्याय होने की आशङ्का अधिक रहती है, और इन्हें इनका उचित अधिकार या सम्पत्ति दिलाने के लिए सहायक की आवश्यकता होती है। वकील इनका सब से अच्छा सहायक हो सकता है। परन्तु यह तभी होगा जब वकील स्वयं बहुत स्वार्थी न हो। अधिकांश वकील वकालत का पेशा इसी लिए करते हैं कि उन्हें अधिक-से-अधिक आमदनी हो। क्योंकि प्रायः धनवान आदमी अधिक फीस या मेहनताना दे सकते हैं, उन्हें ही वकीलों की सहायता भी अधिक मिल जाती है। अनेक बार वे लोग वास्तव में दोषी होते हुए भी, वकीलों को चतुराई से कानूनन अपराधी साबित नहीं होते; इसके विरुद्ध, गरीब आदमी अच्छा वकील न पाने के कारण निर्दोष होते हुए भी कानून की पकड़ में आजाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश वकील महानुभाव समाज में अपना उचित कर्तव्य पालन नहीं कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि अपनी फीस का लोभ छोड़कर न्याय के वास्ते प्रयत्न करें, निर्बलों और निर्धनों की रक्षा करें। बहुत से मामले तो ऐसे होते हैं कि यदि वकील लोग चाहें तो मुद्दई मुद्दायले या वादी प्रतिवादी आपस में राजीनामा करलें,

और मुकदमेबाजी के खर्च और परेशानी से बच जायँ। परन्तु प्रायः वकीलों की यह इच्छा कम ही रहती है। वे तो चाहते रहते हैं कि आदमी मुकदमेबाजी में फँसे, और हमें फीस मिलती रहे। वकील का आदर्श यह होना चाहिए कि यथा-सम्भव देश में मुकदमेबाजी न हो, और न्याय की भरसक रक्षा की जाय, चाहे इसके लिए वकील को धन का ही नहीं, अपने सुख का भी त्याग करना पड़े।

प्रकाशक का आदर्श—लेखक के विषय में पहले विचार किया जा चुका है। उसकी उत्तमोत्तम कृतियों को छपाकर उनका जनता में प्रचार करना प्रकाशक का कार्य है। प्रकाशक ज्ञान की ज्योति को घर-घर पहुँचाकर, अंधकार को दूर करनेवाला है। परन्तु यह तभी तो होता है, जब वह अपने दायित्व को समझे और आदर्श का ध्यान रखे। ऐसा न होने की दशा में, प्रकाशकों के लोभी और स्वार्थी होने की हालत में, पुस्तकें तो धड़ाधड़ छपती हैं, पर अच्छे साहित्य की बेहद कमी रहती है। अधिकांश पुस्तकें ऐसी छपती हैं, जिनसे प्रकाशकों को चाहे जितनी आमदनी हो, उनसे जनता का उत्थान नहीं होता। इसके विपरीत, पाठकों के मन में ईर्ष्या, द्वेष, चंचलता, संकीर्णता, कट्टरता, और कलह आदि के भाव बढ़ते हैं। मिसाल के तौर पर हिन्दी साहित्य का ही लेखा-जोखा किया जाय। पिछले वर्षों में प्रकाशन खूब बढ़ा है, तो भी ज्यादातर पुस्तकें कहानियों, जासूसी उपन्यासों, या साम्प्रदायिक मतभेदों आदि की ही छप रही हैं; राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कृषिशास्त्र, भूगोल, व्यावहारिक आदर्श, चरित्र-निर्माण आदि को ऊँचे दर्जे की कृतियाँ इनीगिनी हैं। प्रकाशकों से इस विषय में कहो तो उनका यह टकसाली जवाब मौजूद रहता है कि ऐसी पुस्तकों के पाठक कम हैं। पर पाठकों की कमी का रोना कब तक रोया जायगा, क्या हम हमेशा पाठकों की रुचि को देखकर ही अपना प्रकाशन करते रहेंगे? क्या प्रकाशकों का यह कर्तव्य नहीं है कि जनता के सामने अच्छी कृतियाँ

रखकर लोक-रुचि को सुधारने में सहायक हों? पर वे इस कर्तव्य का पालन तभी कर सकते हैं जब कि वे जल्दी-से-जल्दी अपना कारोबार बढ़ाकर धनवान बनने के बजाय भाषा के अभाव दूर करने को, लोक-सेवा को, अपना लक्ष्य बनाने में दत्तचित्त हों।

खेद है कि अधिकांश प्रकाशकों के सामने कोई आदर्श नहीं होता। उनकी एकमात्र इच्छा अधिक-से-अधिक धन कमाना होता है, और इस के लिए वे छपने योग्य पुस्तक की कसौटी यह रखते हैं कि वह ज्यादा से ज्यादा बिके। वे तरह-तरह की चालाकियों से काम लेते हैं, जैसे लेखकों को कम-से-कम पारिश्रमिक देने के लिए झूठा हिसाब रखना, पुस्तक पर असली लेखक का नाम न देकर, उसकी जगह किसी प्रसिद्ध आदमी का नाम दे देना, टेक्स्ट-बुक-कमेटियों के मेम्बरों पर अनुचित प्रभाव डाल कर अपनी पुस्तक को पाठ्य पुस्तक के रूप में मंजूर कराना। यहाँ तक कि इस काम के लिए गुपचुप रिश्वत आदि भी दे देना। आवश्यकता है कि प्रकाशक इस निन्दनीय व्यवहार का परित्याग कर, अपने महान कर्तव्य का पालन करें, और अपने सामने दीपक का आदर्श रखे, जो चारों ओर प्रकाश फैलाने के लिए अपना तेल और बत्ती जलाता रहता है।

धर्मोपदेशक का आदर्श—संसार के विविध धर्मों में, दूसरी बातों में चाहे जितना मतभेद हो, वे प्रायः एक बात में सहमत हैं। सब धर्म यह मानते हैं कि सृष्टि का रचयिता और पालन-पोषण करनेवाला एक परमात्मा (खुदा, 'गाड' आदि) है, और संसार भर के सब आदमी उसकी सन्तान हैं, इसलिए परस्पर भी भाई-भाई हैं। यदि प्रत्येक धर्म के उपदेशक इस बात को स्वयं अच्छी तरह समझलें और लोगों को एक-दूसरे से प्रेम करना, सहानुभूति रखना, सुख-दुख में साथ देना, सिखावें तो हमारा सामाजिक जीवन कितना अधिक सुखमय हो जाय। पर अफसोस ! आज दिन तो कितने ही आदमी दूसरों को मारने-पीटने

और दुख पहुँचाने के लिए तैयार रहते हैं, और यह इसलिए कि वे अपने आपको एक खास धर्म का अनुयायी मानते हैं, और दूसरे धर्म वालों को अपना विरोधी या शत्रु समझते हैं। हमने 'धार्मिक' झगड़ोंकी सृष्टि करके धर्म की कैसी मिट्टी खराब की है! इसी का नतीजा है कि जगह-जगह धर्म के विरोध में आवाज उठ रही है। बहुत से आदमी वास्तव में यह विश्वास करते हैं कि संसार से 'धर्म' नाम की चीज का लोप हो जाना चाहिए; 'धर्म' तो एक देश के, एक प्रान्त के, एक नगर या ग्राम के आदमियों को आपस में लड़ने की प्रेरणा करता है, और इस प्रकार नागरिकता की भावना पर कुठाराघात करता है। ऐसे विचारों का दायित्व बहुत कुछ हमारे धर्मोपदेशकों पर है। उन्होंने जनता को ठीक रास्ता नहीं बताया। कहीं अज्ञान से, और कहीं भय या प्रलोभन से उन्होंने ऐसी बातों का प्रचार किया, जो लोगों में ईर्ष्या-द्वेष बढ़ाती हैं, और उन्हें दूसरे धर्मवालों के खून का प्यासा बनाती हैं।

अधिकतर धर्मोपदेशकों ने अपने व्यवसाय को आमदनी का साधन समझ रखा है। वे ऐसी ही बातें कहना चाहते हैं जिससे उन्हें कोई कष्ट न उठाना पड़े और उनकी आमदनी को धक्का न पहुँचे। यही कारण है कि वे प्रायः अपने धर्म के अनुयायियों में से किसी की जी खोलकर निन्दा नहीं करते; चाहे वह बहुत दुर्गुणी ही क्यों न हो। वे थोड़ा सा भी दान धर्म करनेवाले धनवान की प्रशंसा करते नहीं थकते, चाहे वह कैसे ही कुत्सित उपायों से धन पैदा करता हो। उनमें पक्षपात इतना अधिक होता है कि यदि उनके धर्म का कोई आदमी दूसरे धर्म वालों से लड़ते-झगड़ते मर जाय, या दूसरों की हत्या करने के अपराध में फाँसी की सजा पा जाय तो उसे 'शहीद', धर्मवीर या हुतात्मा आदि की उपाधि दे डालते हैं। ऐसे धर्मोपदेशकों से यह तो आशा ही कैसे हो सकती है कि वे अपने देश की सरकार के विरोध में आवाज उठावेंगे, जब कि वह सरकार कुछ निर्दोष आदमियों पर अत्याचार करे, उन्हें

११

जेल में ठूँसे, उन पर लाठी वर्षा कराए, या किसी दूसरे को अपने अधीन करने के लिए उस पर अकारण हमला करे। जबकि धर्मोपदेशकों को पैसे का लोभ है, और अपनी जान का बेहद मोह है तो वे अपने कर्तव्य का पालन या आदर्श की रक्षा कैसे कर सकते हैं। अपने आदर्श का विचार रखनेवाले धर्मोपदेशकों को निडर और निर्लोभी होना चाहिए, उन्हें विश्वबन्धुत्व का प्रचार करना चाहिए, और खराब काम करनेवालों की खरी और स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए, चाहे इसके लिए उन्हें कोई भी संकट सहना पड़े या मृत्यु का ही आलिङ्गन क्यों न करना पड़े।

वैज्ञानिक और आविष्कारक का आदर्श—वैज्ञानिक और आविष्कारक का काम है, सृष्टि के विविध रहस्यों और प्रकृति के नियमों का मालूम करना। सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक धीरे-धीरे अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त हो चुका है, तथापि ज्ञान की कोई सीमा नहीं। अब भी कितनी ही बातों का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। वैज्ञानिक अपनी निरन्तर साधना से जनता की ज्ञान-वृद्धि करते हैं। दुर्भाग्य से उनके आविष्कारों से जनता का जितना हित होता है, कभी-कभी उससे अधिक अहित हो जाता है। इसमें वैज्ञानिक का दोष नहीं, स्वार्थी और अनसमझ आदमी अच्छी-से-अच्छी चीज का भी दुरुपयोग कर डालते हैं। हाँ, वैज्ञानिक का कर्तव्य है कि स्वयं जानबूझ कर कोई ऐसा आविष्कार करने में योग न दे, जो लोकहित के विरुद्ध हो। प्रायः पूँजीपति या सरकारें अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए वैज्ञानिकों को खरीदना, और उनसे ऐसे आविष्कार कराना चाहती हैं, जिनसे संसार के व्यापक हित की हानि हो। ऐसे अवसरों पर वैज्ञानिकों को अपने स्वार्थ-त्याग और लोक सेवा की भावना का परिचय देना चाहिए; उन्हें उन कष्टों का स्वागत करने लिए तैयार रहना चाहिए जो सत्ताधारियों का विरोध करनेवालों को मिला ही करते हैं। वैज्ञानिक को

सत्य की खोज में लगे रहना है, पर उसकी दृष्टि से लोकहित कभी ओझल न होना चाहिए, उसे अपने जीवन से, और आवश्यकता हो तो मृत्यु तक का स्वागत करके, अपने सेवा-भाव का परिचय देना चाहिए।

कवि और चित्रकार आदि का आदर्श—कवियों, चित्रकारों, गवैयों, मूर्ति बनानेवालों, खेल तमाशे करनेवालों, सिनेमा या चित्रपट आदि दिखाने वालों का मुख्य कार्य है, जनता का मनोरंजन करना तथा उसके हृदयों में ऊंची भावनाएँ पैदा करना। खेद है कि मनोरंजन के नाम पर आज दिन अनेक अनिष्टकारी बातें की जाती हैं। कितनी ही कविताएँ धनवानों, रईसों, या राजाओं और सरदारों की खुशामद से भरी, या अश्लील शृंगार रस की होती हैं, या लोगों में क्षुद्र साम्प्रदायिक भावना, ईर्ष्या-द्वेष आदि बढ़ानेवाली होती हैं, उनसे सुननेवालों में कर्तव्य पालन की प्रेरणा, त्याग और बलिदान की भावना जागृत नहीं होती। बहुत सी मूर्ति या चित्र इस तरह के होते हैं कि भले आदमियों को उन्हें अपने घरों में, माँ बहिनों के सामने लगाने में लज्जा आती है। अनेक सिनेमा या टाकी ग़रीब आदमियों का पैसा खींचने और उनमें उद्वेग, चंचलता उत्तेजना आदि की कुत्सित भावना बढ़ाकर उन्हें चरित्र-भ्रष्ट करने का कार्य कर रहे हैं। ऐसी बातें क्यों होती हैं? कारण यही है कि हमारे बहुत से कवि और चित्रकार आदि जैसे-बने रुपया पैदा करने में लगे हुए हैं, उनके सामने कोई अच्छा उद्देश्य नहीं, उनका कोई आदर्श नहीं। आवश्यकता है कि ये लोग जनता का मनोरंजन करने के साथ उसमें अच्छी भावनाएँ पैदा करने का विचार रखें, और इसके लिए अपना निजी स्वार्थ नियन्त्रित करें, और उसका त्याग करने को भी तैयार रहें। मानव जीवन में मनोरंजन का बड़ा महत्व है, और इसलिए समाज का जो वर्ग जनता के लिए मनोरंजन की व्यवस्था करता है उसका स्थान कदापि उपेक्षा के योग्य नहीं, परन्तु

मनोरञ्जन ऐसा ही होना चाहिए कि हममें मानवता की वृद्धि करे, न कि दुर्गुणों को बढ़ाकर हमें नीचे गिरानेवाला हो।

विशेष वक्तव्य—ऊपर कुछ व्यवसायों का आदर्श बताया गया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, समाज में व्यवसायों की संख्या इतनी अधिक है कि हरेक के बारे में अलग-अलग लिखना बहुत कठिन है। तथापि जो बातें कही गई हैं, उनसे दूसरे व्यवसाय वालों को भी विचार करने के लिए काफी सामग्री मिल सकती है। संक्षेप में हरेक आदमी के सामने यह विचार रहना चाहिए कि मैं समाज का अंग हूँ समाज से मुझे विविध सुविधाएँ मिलती हैं, इसलिए मुझे भी समाज की सेवा करके उसकी उन्नति में यथेष्ट भाग लेना चाहिए। फिर, सेवा और परोपकार में हमारा भी हित है, इनसे हममें मानवी गुणों का विकास होता है। निदान हरेक नागरिक के व्यवसाय का आदर्श यह होना चाहिए कि समाज-सेवा और परोपकार करते हुए अपना निर्वाह करे

चौदहवाँ अध्याय

आदर्श की शिक्षा

'सिद्धान्त का त्याग करनेवालों की निन्दा की जाती है। पर हम यह नहीं ताड़ते कि यह दोष उनके स्वभाव का नहीं है, किन्तु यह वह दुर्बलता है, जिसे मिटाने के लिए उन्हें शिक्षा नहीं मिली, और न उन्हें आत्म-संयम का ही अभ्यास कराया गया।'

—'स्वाधीनता के सिद्धान्त'

अधिकांश आदमियों का कोई आदर्श नहीं होता—पिछले अध्याय में कुछ व्यवसायों का आदर्श बताते हुए इस बात का भी दिग्दर्शन कराया गया है कि विविध व्यवसायों में लगे हुए नागरिक प्रायः

किसी अच्छे ऊँचे आदर्श से काम नहीं करते; बहुधा उनके सामने कोई आदर्श ही नहीं होता। वे अपने व्यवसाय को सिर्फ इसलिए करते हैं कि वे उसे अपनी आजीविका या धन प्राप्ति का साधन समझते हैं। वे अपने व्यवसाय के द्वारा अधिक-से-अधिक धन कमाना चाहते हैं; यही कारण है कि जब उन्हें किसी नए व्यवसाय से अधिक आमदनी की आशा होती है, तो वे अपना पुराना व्यवसाय छोड़कर झट दूसरा व्यवसाय करने को बेचैन रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश आदमियों का नागरिक जीवन या नैतिक मान बहुत नीचे स्तर पर है। ऐसा क्यों होता है, इसका मूल कारण क्या है ?

आदर्श की शिक्षा की आवश्यकता—ज़रा सोचने पर यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि हमारे आदमियों को इस बात की आवश्यक शिक्षा नहीं मिली है कि उन्हें जीवन में अच्छे सिद्धान्त और आदर्श रखकर काम करना चाहिए, अपने व्यवसाय का गौरव बढ़ाना चाहिए, उस व्यवसाय को धन-प्राप्ति का साधन न समझ कर उससे अपने जीवन के विकास में सहायता लेनी चाहिए। यह शिक्षा किस तरह दी जाय, इसके लिए आदमी की उम्र का कौनसा हिस्सा उपयुक्त होता है, और यह शिक्षा कौन दे—इन बातों का विचार आगे किया जाता है।

घर में—हमारी सबसे पहली पाठशाला या शिक्षाशाला घर है, और हमारे सबसे प्रथम आचार्य या शिक्षक हमारे माता-पिता होते हैं। जिस बात की शिक्षा बचपन में माता-पिता द्वारा मिल जाती है, वह हृदय पर अच्छी तरह जम जाती है, उसका प्रभाव प्रायः जन्म भर बना रहता है। यहाँ हमारा मतलब उस शिक्षा से है, जो जबानी या मौखिक नहीं होती, वरन् दृष्टान्त या आचरण द्वारा दी जाती है। बच्चा जिस तरह की बात व्यवहार दूसरों को करते देखता है, उसका उसके मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है; पीछे, जब-जब उसे मौका मिलता है, वह उस

बात-व्यवहार की नकल करने का इच्छुक रहता है। अकसर बड़ी उम्र में आदमी जो कार्य करता है, जिन गुणों या दुर्गुणों का, अच्छी या बुरी आदतों का परिचय देता है, उनके संस्कार बचपन में ही पड़े होते हैं। इसलिए इस बात की बड़ी जरूरत है कि माता-पिता ऐसा जीवन बिताने वाले हों कि बालक भली भाँति यह समझ ले कि दुनिया में रुपया-पैसा ही सब कुछ नहीं है, हमें अपना काम सच्चाई, ईमानदारी, नेकनीयती, सेवा और परोपकार-भाव से करना है; और, अपने नागरिक बंधुओं के लिए आवश्यक त्याग करना हमारा कर्तव्य है। माता-पिता के अलावा घर के बड़ी उम्र के दूसरे आदमियों को भी इस विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए कि बालक के मन में लोभ, ईर्ष्या आदि का संस्कार न पड़े। निदान, घर भर का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि बालक में प्रेम, सहयोग, सामाजिकता और नागरिकता के भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, और जब वह बड़ा होकर कोई व्यवसाय करे तो उसमें आदर्श की अवहेलना करने की प्रवृत्ति न हो।

शिक्षा-संस्थाओं में—माता-पिता और निकट सम्बन्धियों से दूसरे दर्जे पर जिस व्यक्ति या व्यक्तियों का प्रभाव आदमी के मन पर सब से अधिक पड़ता है, वह शिक्षक या अध्यापक हैं। खेद है कि भारतवर्ष में अभी शिक्षा का प्रचार बहुत कम है—फी सैकड़ा सिर्फ चौदह-पन्द्रह आदमी ऐसे हैं जो कुछ पढ़ना-लिखना जानते हैं ; ऊँची शिक्षा पाए हुए लोगों की संख्या तो और भी कम है। फिर, हमारे शिक्षा-क्रम में नागरिकता की भावना या आदर्श की शिक्षा का स्थान बहुत कम है। विद्यार्थी स्कूलों और कालिजों से यह भाव लेकर निकलते हैं कि धन ही हमारी योग्यता और सफलता का माप है। वे देखते हैं कि कालिजों में पढ़ानेवाले प्रोफेसर आदि खासी अच्छी वेतन पाते हुए भी और अधिक धन-प्राप्ति की चिन्ता में तरह-तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। विद्यार्थी जिस अर्थशास्त्र को पढ़ते हैं, उसमें प्रायः नीति को तिलांजलि

दी हुई होती है। ऐसी शिक्षा-संस्थाओं से निकलनेवाले ग्रेजुएटों या स्नातकों से अपने व्यवसाय में त्याग और सेवा के आदर्श रखने की क्या आशा की जाय! ज़रूरत है कि इसमें आमूल परिवर्तन किया जाय। हमारा शिक्षा-क्रम, शिक्षक, और पाठ्य पुस्तकें—सब ऐसे हों कि युवक और युवतियों को अपना व्यवसाय नैतिक आधार पर चलाने की प्रेरणा करें; और वह प्रेरणा इतनी प्रबल हो कि सहसा उसकी अवहेलना न की जा सके।

विश्वविद्यालयों और विद्यापीठों का उत्तरदायित्व—हमारे विश्वविद्यालय और विद्यापीठ आदि गर्व के साथ अपनी रिपोर्टें प्रकाशित करती हैं कि हमने इस वर्ष इतने ग्रेजुएट, इतने 'मास्टर आफ-आर्ट्स' या 'मास्टर-आफ-सायन्स', इतने एंजिनियर, इतने आलिम-फाजिल, इतने साहित्य-रत्न या विज्ञान-रत्न आदि निकाले; पिछले वर्ष की अपेक्षा इनकी संख्या इतनी अधिक है, और उससे पहले की अपेक्षा हमने इतनी प्रगति की है। क्या यह प्रगति वास्तव में गर्व या अभिमान का विषय है? क्या उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि जिन विद्यार्थियों को हमने पढ़ाया, जिनका बहुत सा रुपया तथा जिनके जीवन के कई वर्ष हमने खर्च कराए, उनमें से कितने कम ऐसे हैं जो अपनी भावी जीवन-यात्रा में अपना व्यवसाय आदर्श-रूप में चलाकर मानवता का परिचय देंगे! हमने युवकों और युवतियों में लोभ और ईर्ष्या आदि कम करने में कहाँ तक सफलता पाई है! जब हम किसी ग्रेजुएट या स्नातक को अपने व्यवसाय में चालाकी, होशियारी या मक्कारी से 'ऊपर की आमदनी' कमाते हुए या बेईमानी रिश्वत या घूसखोरी अथवा मुनाफाखोरी आदि का अपराध करते हुए देखते देखते है तो हृदय काँप उठता है! इन शिक्षितों ने अपना निजी स्वार्थ साधा, पर देश और समाज का कितना अहित किया! क्या अशिक्षित ही इनसे अच्छे नहीं हैं? अस्तु, हमारी शिक्षा-संस्थाओं पर इस बात

की जिम्मेदारी है कि वे अपने यहाँ पढ़नेवालों को कुछ विषयों का मानसिक ज्ञान कराकर ही सन्तुष्ट न हों, वरन् उन्हें ऐसी शिक्षा दें कि वे अपने व्यवसाय को आदर्श और अनुकरणीय ढंग पर चलावें।

समाज में आदर्श की शिक्षा की आवश्यकता—ऊपर इस बात का विचार किया गया है कि भावी नागरिकों को अपने माता-पिता और शिक्षकों द्वारा ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे वे बड़े होने पर अपने-अपने व्यवसाय में आदर्श का विचार रखें और उसके अनुसार व्यवहार करें। इसी तरह की शिक्षा उन्हें समाज के अन्य प्रौढ़ तथा बड़े बूढ़ों से मिलनी चाहिए। आदमी सामाजिक प्राणी है, उस पर वातावरण और लोकमत का बड़ा प्रभाव पड़ता है, और साथ ही वह भी एक सीमा तक वातावरण और लोकमत को बनानेवाला, तथा उसमें सुधार या संशोधन करनेवाला होता है। आजकल बहुत से आदमी जैसे-बने धन कमाने में लगे रहते हैं, समाज में धन की ही कद्र है, गरीब आदमी के सद्गुणों का आदर नहीं होता। इससे वातावरण बहुत बिगड़ा हुआ है, और कमजोर आत्मा वालों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है, वे भी धन की पूजा में लग जाते हैं। आवश्यकता है कि हरेक विचारशील सज्जन इस विषय पर गम्भीरता से सोचे और अपने व्यवहार और उदाहरण से इस वातावरण के सुधारने का प्रयत्न करे।

यह ठीक है कि जो महानुभाव इस दिशा में आगे बढ़ते हैं उन्हें अनेक बार आर्थिक हानि उठानी पड़ती है और समाज में प्रायः उनकी हंसी या निन्दा होती है। परन्तु लोक-व्यवहार में आदर्श का ध्यान रखने वालों को ऐसी बातों के लिए सदा तैयार रहन चाहिए। निदान, नागरिकों को घर में, स्कूल में, और समाज में, हर जगह ऐसी शिक्षा मिलनी चहिए, जिससे वे अपने अपने व्यवसाय में आदर्श का विचार रखें और अपने व्यवहार में कभी उसकी उपेक्षा न करें। ऐसा होने पर अगली पीढ़ी में यथेष्ट सुधार होने की आशा है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

उपसंहार



व्यवहार से अलग होकर सिद्धान्त विचार-व्याधि उत्पन्न करता है। इसी प्रकार व्यवहार यदि सिद्धान्त के आधार पर न हो तो वह व्यर्थ हो जाता है। —नरेन्द्र देव

व्यवसाय के तीन ध्येय—पिछले अध्यायों में भिन्न-भिन्न व्यवसायों के आदर्श का, तथा आदर्श की शिक्षा-प्राप्ति का विचार कर चुकने पर अब हम जरा यह सोचें कि व्यवसाय के ध्येय के बारे में मुख्य कौन-कौनसी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं, और उनमें से ऐसी कौनसी है, जो समाज के लिए सब से अधिक उपयोगी होने के साथ व्यावहारिक भी हो। स्थूल रूप से किसी आदमी का अपने व्यवसाय के लिए आगे लिखे तीन ध्येयों में से कोई एक हो सकता है—(१) स्वार्थ-वाद, (२) परमार्थवाद और (३) मध्यम मार्ग। इनमें से पहला एक सीमा पर रहता है, तो दूसरा दूसरी सीमा पर, और तीसरा इन दोनों के बीच में, इनका मिला-जुला रूप है।

साधारण तौर से स्वार्थवाद और परमार्थवाद अपने विशुद्ध रूप में बहुत कम मिलते हैं। जिन लोगों को हम स्वार्थवादी कहते हैं, उनमें से बहुत से कभी-कभी कुछ परमार्थ भी कर देते हैं। इसी तरह परमार्थवादियों में भी कुछ स्वार्थ की भावना हो सकती है। प्रायः हमारे अनुभव में स्वार्थ और परमार्थ का मिश्रण ही आता है। हाँ, इस मिश्रण में इन दो तत्वों का अनुपात विभिन्न मात्राओं में होता है—मिसाल के तौर पर एक आदमी अपने व्यवसाय में ६० प्रतिशत स्वार्थ और १० प्रतिशत परमार्थ, दूसरा आदमी लगभग ५०-५० प्रति स्वार्थ और परमार्थ, और, तीसरा आदमी

६० प्रतिशत परमार्थ और १० प्रतिशत स्वार्थ का भाव रखता है। हम इन में से पहले को स्वार्थवादी, दूसरे को मध्यम मार्ग वाला, और तीसरे को परमार्थवादी कहा करते हैं।

स्वार्थमय विचार-धारा—स्वार्थवादी की विचार-धारा यह होती है—'व्यवसाय के लिए शारीरिक या मानसिक परिश्रम मैं करता हूँ, उसका उसका लाभ मुझे मिलना चाहिए, यदि दूसरों को उससे हानि होती है तो मैं क्या करूँ। दूसरे आदमी मुझे बेईमान, मुनाफेखोर, या लोभी लालची कहते हैं; ऐसा वे ईर्ष्यावश करते हैं। बेईमानी या मुनाफाखोरी आदि करना कोई आसान काम नहीं है; दूसरे आदमी चाहें तो वे भी कर देखें; और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे भी करते हैं। खैर, वे करें या न करें; मुझे क्या मतलब! मुझे अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन की ज़रूरत है; धन के बिना समाज में काम नहीं चलता। इसलिए मुझे अपने व्यवसाय द्वारा अधिक-से-अधिक धन कमाना है; इसके लिए मैं अपनी बुद्धि का उपयोग क्यों न करूँ!'

स्वार्थवादी यह भूल जाता है कि वह अपने ज्ञान, शिक्षा, सभ्यता रक्षा, जिन्दगी और विकास के लिए समाज का बहुत ऋणी है, और उसे समाज के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए। अगर हरेक आदमी सामाजिक हित और लोक-सेवा की बात भूल कर अपने निजी या व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन में लगा रहे तो सामाजिक जीवन बहुत कठिन हो जाय; फल-स्वरूप हरेक आदमी की उन्नति रुक जाय और उसकी जीवन-यात्रा संकटमय हो जाय।

परमार्थवादी की विचार-धारा—परमार्थवादी की विचार-धारा, इस प्रकार होती है—'मैं जो चीज खाता पीता हूँ या काम में लाता हूँ, इनका आविष्कार मनुष्य जाति ने धीरे-धीरे अनेक पीढ़ियों में किया है। जो भाषा मैं बोलता हूँ उसके निर्माण के लिए न-मालूम कितना

परिश्रम किया गया है। इस प्रकार मैं मनुष्य जाति का, अपने पूर्वजों का बहुत ऋणी हूँ। बहुत पहले की बात छोड़ दी जाय तो इस समय भी समाज मुझे कितना कृतार्थ कर रहा है, कोई मेरे लिए अन्न आदि पैदा करता है, कोई कपड़ा बुनता है, कोई घर बनाता है। नाई, धोबी, मेहतर, चमार, जुलाहा, लेखक, अध्यापक—कितने आदमियों के सहयोग से मेरी जीवन-यात्रा में सुविधा मिल रही है। मेरे ऊपर यह जिम्मेवरी है कि मैं समाज-सेवा करके यथा-सम्भव अपने ऋण से उऋण होऊँ। फिर यदि मैं प्रेम, दया, सहानुभूति, त्याग के भावों का परिचय दूँगा तो इससे मेरे गुणों का विकास होगा, मैं मनुष्यत्व प्राप्त करूँगा। इसलिए मुझे अपने व्यवसाय में परमार्थ की भावना रखनी चाहिए। मुझे दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का ही नहीं, अपने प्राणों तक का बलिदान करने को तैयार रहना चाहिए।'

गौतम बुद्ध जनता का दुख दूर करने के उपायों की खोज के लिए अपना राजपाट छोड़कर वर्षों जङ्गल में भटकता रहा था। ईसा ने लोक-हित के लिए सूली का स्वागत किया था, सुकरात ने अपने नागरिक बंधुओं के कल्याण से अन्त समय तक मुँह नहीं मोड़ा, यहाँ तक कि वह जहर का प्याला खुशी-खुशी पी गया। कहाँ तक गिनाया जाय, अनेक साधु-महात्माओं ने परोपकार के लिए अपना तन मन, प्राण सभी न्योछावर किया है। इस समय म० गाँधी हमारे सामने लोकहित के लिए कितना कष्ट उठा रहे हैं। उनका आदर्श विश्वबन्धुत्व है। हमें भी लोक-सेवा का आदर्श रखकर अपना कार्य करते रहना चाहिए, चाहे उसके लिए अपनी जान भी क्यों न दे देनी पड़े।

मध्यम मार्ग अधिक व्यावहारिक है—ऐसे त्याग-वीरों के सामने संसार श्रद्धापूर्वक सिर नवाता है। सब उनकी प्रशंसा करते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनका नाम चलता है। अपने गाँव या नगर के ही नहीं, अपने देश के ही नहीं, दूर-दूर के देशों के निवासियों द्वारा ये महानु-

भाव पूजे जाते हैं; कोई इनका चित्र बनाता है, कोई इनकी मूर्ति बनाता है, कोई इनका जीवनचरित्र लिखता है, और कोई इन्हें अपने काव्य का नायक बनाता है। यह सब होते हुए भी इनके मार्ग का अनुकरण थोड़े से ही आदमी करते हैं। सर्व साधारण के लिए पूरे तौर से इनके सुझाए हुए रास्ते से चलना व्यावहारिक नहीं होता। परन्तु हर एक आदमी मध्यम मार्ग का अवलम्बन तो कर ही सकता है, और करना चाहिए।

हम 'जीओ और जीने दो' की नीति रखें; व्यवसाय द्वारा अपना भरण-पोषण करें, पर किसी को कष्ट या हानि न होने दें। हम धन कमाने के काम करें, पर याद रखें कि अधर्म या अनीति से कमाया हुआ धन स्थायी सुख और शान्ति देनेवाला नहीं होता; उससे हमारे विकास में बाधा होती है। हमारी शक्ति और योग्यता समाज द्वारा प्राप्त हुई है, वह यथा-सम्भव और अधिक-से-अधिक लोक-हित में लगनी चाहिए। हम चाहे जो व्यवसाय करें, उसमें हमारा आदर्श यही हो। शुभम्।



शब्द-विचार प्रकरण

जिसमें शब्द का स्वरूप, उसके भेद, विकार के कारणों और रूपान्तर के प्रकारों पर विचार किया जाय, व्याकरण के उस भाग को शब्द विचार कहते हैं।

शब्द—वर्णों के अर्थवान् समूह को शब्द कहते हैं।

अर्थ—शब्द को बोलने या पढ़ने से जिसका ज्ञान हो, वह शब्द का अर्थ है। जैसे—गाय कहने से पशु का ज्ञान होता है।

शब्द के भेद

शब्द के अर्थ, उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, विकार और प्रयोग इन पांच दृष्टि से भेद किये जाते हैं।

अर्थ—अर्थ के विचार से शब्द के तीन भेद हैं :—वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक।

वाचक—जो सीधा अर्थ बताये। जैसे—'गाय' घास खाती है।

लाक्षणिक—जब शब्द सीधा अर्थ न बताकर भिन्न अर्थ बताये। जैसे—रामदीन तो 'गऊ' है। यहां गऊ का अर्थ गरीब या सीधा लिया जाता है।

व्यञ्जक—जो किसी गुप्त अर्थ का ज्ञान कराये। जैसे—'गंगातट के वासी' कहने से 'पवित्र आत्मा' अर्थ निकलता है।

उत्पत्ति (जन्म) के विचार से भेद—जन्म के विचार से हिन्दी शब्दों के चार भेद हैं—(१) तत्सम, (२) तद्भव, (२) देशज (४) विदेशी।

तत्सम—जो संस्कृत से हिन्दी में अपने उसी रूप में आये हों। जैसे—गृह, विद्या, कर्म, धर्म आदि।

तद्भव—जो शब्द हिन्दी में संस्कृत से रूप बदल कर आये हों। जैसे--घर, मां, बहन, घी (गृह, मातृ, भगिनी, घृत)।

देशज—जो शब्द जन साधारण की बोली से आये हों। जैसे मुण्डा, लड़की, लोटा, माहुर, बैंगन आदि।

विदेशी—जो हिन्दी में विदेशी भाषा से आये हों। जैसे—कलम, चाकू, स्कूल, आलमारी, टेबल, नीलाम आदि।

व्युत्पत्ति के विचार से भेद

व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के होते हैं। यथा:—१—रूढ़ि, २—यौगिक, ३—योग रूढ़ि।

यौगिक—जिन शब्दों के प्रत्येक खण्ड अपना पृथक् ... रखें। जैसे—पाठक (पढ़नेवाला) पाचक (पकानेवाला) अध्यापक (पढ़ाने वाला) आदि।

रूढ़ि—जिसका बनावट से कोई अर्थ न हो पर उसका लोक में एक अर्थ में व्यवहार होता चला आ रहा हो। जैसे--घोड़ा, थाली, चुन्नू आदि।

योग रूढ़ि—जो यौगिक होने पर भी एक विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त हों। जैसे--पंकज, पीताम्बर, चारपाई, चौपाया।

विकार की दृष्टि से दो भेद होते हैं:—(१) विकारी, (२) अविकारी।

विकारी—वाक्य में प्रयोग होने पर जिनका स्वरूप बदले। ये चार हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया।

अविकारी—जिनमें प्रयोग होने पर भी कोई विकार न हो। इन्हें अव्यय भी कहते हैं। ये चार हैं:—क्रिया विशेषण, सम्बन्ध-बोधक अव्यय, योजक, द्योतक अव्यय।

वाक्य में प्रयोग के विचार से भेद:—

वाक्य में प्रयोग के विचार से शब्दों के आठ भेद होते हैं—१—संज्ञा, २—सर्वनाम, ३—विशेषण, ४—क्रिया, ५—क्रिया-विशेषण, ६—सम्बन्ध बोधक, ७—योजक, ८—द्योतक। इसे अंग्रेजी में 'Parts of Speech' कहते हैं।

अभ्यासार्थ--प्रश्न

१—व्युत्पत्ति के विचार से शब्द के कितने भेद हैं? प्रत्येक प्रकार के चार २ शब्द बताइये। २—तत्सम और विदेशी शब्दों में भेद बताकर हिन्दी में काम आने वाले दोनों प्रकार के कुछ शब्द दीजिये। ३—विकारी और अविकारी शब्द गिनाइये।

संज्ञा

जिस शब्द से किसी वस्तु, किसी स्थान, किसी प्राणी, किसी भाव और क्रिया का ज्ञान होता है, उसे संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्य तीन भेद हैं—जातिवाचक संज्ञा, व्यक्ति वाचक संज्ञा, भाव वाचक संज्ञा। अंग्रेजी के विचार से दो भेद और हैं:—द्रव्य-वाचक, समूह वाचक।

जातिवाचक—(Common Noun) जिसके द्वारा उस प्रकार के सभी व्यक्तियों का ज्ञान हो जाये, उसे जाति वाचक कहते हैं।

व्यक्तिवाचक—(Proper Noun) जिससे एक ही विशेष वस्तु, स्थान या व्यक्ति का ज्ञान हो। जैसे—राम, कलकत्ता, राम-चरितमानस, गंगा, ताज महल आदि।

भाव वाचक—(Abstract Noun) जिससे किसी, स्वभा' अवस्था, व्यापार आदि सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान हो। जैसे—मनुष्यत' हिंसा, होड़, बुढ़ापा, बचपन, अध्ययन, सदाचार, क्रीड़ा आदि।

द्रव्य वाचक—(Material Noun) जो शब्द उन मूल तत्वों का ज्ञान करायें जिनसे अन्य वस्तु बनती हैं। जैसे—जल वायु, गैस, मिट्टी।

समुदाय वाचक—(Collective Noun) जो एक

प्रकार की वस्तुओं के समूह का ज्ञान करायें। जैसे—कक्षा, सेना, सभा, माला, श्रेणी, पंक्ति।

इनके भेदों का ज्ञान एक शब्द से ही हो जाने के कारण हिन्दी व्याकरण में इनकी गणना जाति वाचक संज्ञा में ही है।

भाव-वाचक संज्ञा का निर्माण

भाववाचक संज्ञा, जाति वाचक संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, और क्रिया विशेषण से बनती है। ता, त्व, आया, आहट, आई, ओर्, आना, पन आदि प्रत्ययों के प्रयोग से भाववाचक संज्ञा बनती है। जैसे:—

संज्ञा से—मनुष्य से मनुष्यता, मानवता, स्त्रीत्व, पशुत्व।

सर्वनाम—आप से आपा, अपनापन।

विशेषण—रंगीन से रंगीनी, शिशु से शिशुत्व, शैशव, बच्चा बचपन।

क्रिया—लड़ना से लड़ाई, हंसना से हंसाई, हंसी, खीझना से खिझाना।

क्रिया विशेषण—दूर से दूरी।

निरर्थक शब्द—खटपट, घिसघिस, भिनभिनाहट, चरमराहट।

विशेष—क्रिया के आगे ना लगाने से वह संज्ञा का काम करती है। जैसे—तुम खाना नहीं जानते।

अपवाद—

१—कभी जाति वाचक संज्ञा एक विशेष व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होकर व्यक्ति वाचक बन जाती है। जैसे—अभी नेहरू जी का व्यक्तित्व भारत में सब से प्रभावशाली है। गांधीजी ने भारत को सत्याग्रह का अस्त्र दिया।

२—कई बार व्यक्ति वाचक संज्ञा का जाति की भांति प्रयोग होता है। जैसे—भारत को लाखों सुभाष और नेहरुओं की आवश्यकता है।

३—भाव वाचक संज्ञा का जाति वाचक रूप में प्रयोगः—तुम्हारे हमारे पहरावे भिन्न २ हैं। धर्मों की व्याख्या कठिन है।

संज्ञा में विकार—

संज्ञा में विकार लिंग, वचन और कारक के कारण होता है।

अभ्यासार्थ—प्रश्न

१—संज्ञा किसे कहते, उसके कितने भेद हैं? प्रत्येक का उदाहरण दीजिये। २—भाव वाचक संज्ञा कैसे बनती है? उसका प्रकार उदाहरण सहित लिखिये। ३—नीचे लिखे वाक्यों में संज्ञा छांटियेः—महात्मा गांधी भारत के नेता थे। गंगा पवित्र नदी है। ताज महल संसार का सब से सुन्दर भवन है। अहिंसा परम धर्म है। जीवों पर दया करो।

—o:※:o—

लिंग (Gender)

संज्ञा की पुरुष या स्त्री जाति के सूचक चिन्ह को लिंग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—पुल्लिग, स्त्रीलिग।

पुरुष जाति सूचक चिह्न को पुल्लिग कहते हैं, स्त्री जाति सूचक चिह्न को स्त्रीलिंग कहते हैं।

कुछ नियम से पुल्लिग शब्द होते हैं, कुछ नियत स्त्रीलिंग।

नियत पुल्लिग शब्द—वन, पर्वत, अन्न, रत्न, समुद्र, धातु, मास, वार, नद; वाचक शब्द, जैसे—मधुवन, हिमालय गेहूँ, मोती, भूमध्य सागर, लोहा, तांबा, चैत्र, रविवार, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र।

नियत स्त्रीलिंग—नदी, दाल, भाषा, तिथि राशि; वाचक जैसे—गंगा, यमुना, मूंग, अरहर, हिन्दी, दूज, कन्या।

कोई २ रत्न, धातु और अन्न वाचक संज्ञाएं भी स्त्रीलिग में आ जाती हैं और दाल पुल्लिग में। जैसे—मणि, चांदी, मकई—स्त्रीलिंग, उड़द—(पुल्लिग)।

कुछ समूह वाचक शब्द पुल्लिग और स्त्रीलिंग में निश्चित होते हैं। जैसे—वृन्द, वर्ग, समूह, यूथ, मण्डल, संघ, पुञ्ज, (पुल्लिग); समिति, सभा, कक्षा, श्रेणि, संसद्, परिषद्, मण्डली, पंक्ति (स्त्रीलिंग)।

लिंग परिवर्तन की रीति

१—अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के अन्त में ई या आ लगाने से स्त्रीलिंग बन जाता है। जैसे—

पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
सुत	आ	सुता
बाल		बाला
वैश्य		वैश्या
पुत्र	ई	पुत्री
देव		देवी
नद		नदी

२—जिन शब्दों के अन्त में 'अक' हो, उनको 'इका' करने से स्त्रीलिंग बनता है। जैसे—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
बालक	बालिका
पाठक	पाठिका
अध्यापक	अध्यापिका

३—आकारान्त शब्दों को 'ई' या 'इया' लगाने से स्त्रीलिंग बनता है—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
रस्सा	रस्सी	हण्डा	हांडी
कुत्ता	कुतिया		